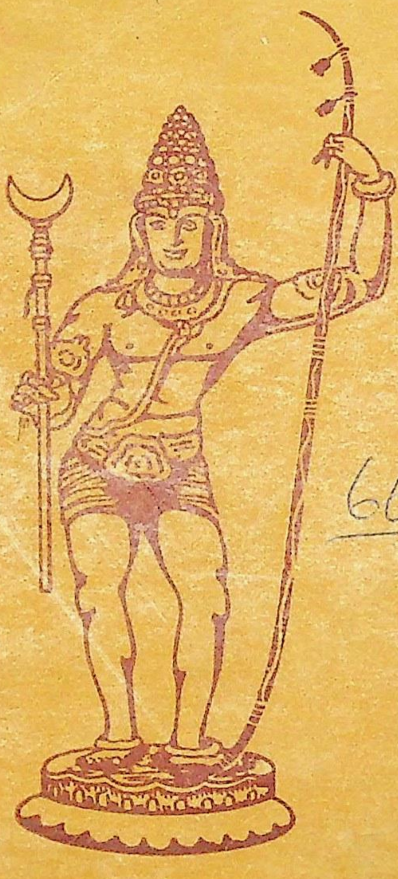


मानस-प्रवचन

रामकिंकर उपाध्याय

मानस-प्रवचन



मानस

बिरला अकादमी आफ

प्रवचन

रचयिता
रामकिंकर उपाध्याय

आर्ट एण्ड कल्चर कलकत्ता

प्रकाशक : बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर
१०८/१०९ सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता-२९

मूल्य : आठ रुपये

संस्करण : रामनवमी, संवत् २०३६

मुद्रक : लखेरवाल प्रेस,
१८, बीडनपुरा, करौलबाग, नई दिल्ली-५

प्राक्कथन

पिछले कई वर्षों से श्री रामचरितमानस की वाङ्मयी अर्चना का जो क्रम 'बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर' की ओर से प्रारम्भ किया गया था **मानस-प्रवचन** का प्रकाशन भी उसी का एक अंग है। पूर्व-प्रकाशित **मानस-मुक्तावली** और **मानस-चरितावली** में जिस विधा का आश्रय लिया गया था **मानस-प्रवचन** की शैली में उनसे कुछ भिन्नता है। पूर्व-प्रकाशित दोनों ग्रंथ लेखनी के माध्यम से प्रस्तुत किये गये थे, जबकि **मानस-प्रवचन** प्रवचनों के टेप से सम्पादित किया गया है। लेखनी के माध्यम से जो लिखा जाता है उसकी तुलना परिपक्व व्यंजन से की जा सकती है, जिसका स्वाद लेने के लिए चर्वण की आवश्यकता होती है। पाठक के प्रबुद्ध होने पर ही उसमें रसानुभूति हो सकती है। **मानस-प्रवचन** फलों से निकाले गये रस के समान है जिसमें किसी आयास की कोई अपेक्षा नहीं होती। प्रवचन-विधा में प्रकाशित पुस्तकों की अधिक लोकप्रियता का कारण भी यही है।

पिछले कई वर्षों से श्री रामनवमी महोत्सव के अवसर पर श्री बसन्तकुमारजी और श्रीमती सरलाजी बिरला की श्रद्धा और सौजन्य से नई दिल्ली के श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर में नव दिवसीय प्रवचनों का आयोजन किया जाता रहा है। **मानस-प्रवचन** में संकलित ये प्रवचन पिछले वर्ष (१९७८) के हैं। इसका प्रतिपाद्य मुख्य रूप से भगवान् राम का वह महान् व्यक्तित्व है जो सेतु की भांति समाज के

दो भिन्न किनारों को जोड़ता है। श्री राम न केवल समुद्र पर सेतु के निर्माता हैं अपितु वे समाज-रूपी समुद्र पर भी अपने चरित्र का सेतु बनाकर सभी व्यक्तियों के पार होने की समस्या का समाधान कर देते हैं। आज जब परस्पर विभेद, विखण्डन और दूरी की समस्या से समाज संत्रस्त है उस समय इस सेतु की सबसे अधिक आवश्यकता है।

इसके प्रकाशन में बिरला-दम्पति का मानसानुराग मुख्य हेतु बना है, एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं। प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन की प्रक्रिया में जिन लोगों ने सहयोग दिया वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। श्री हरिशंकर शर्मा तथा उमाशंकरजी ने इसके सम्पादन में बड़ा परिश्रम किया है। पुस्तक अत्यधिक विलम्ब से पहुंचने पर भी इसके शीघ्र प्रकाशन का श्रेय श्री बाबूलालजी बियाणी को है। पुस्तक की साज-सज्जा और सुन्दर छपाई का श्रेय लखेरवाल प्रेस को है।

--रामकिंकर

अनुक्रम

।। श्री रामः शरणं मम ।।

१

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती ।
कस न राम तुम्ह राखहु नीती ।।
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता ।
प्रेम बिबस सेवक सुखदाता ।।
जाइ देखि आवहु नगरु सुख निधान दोउ भाइ ।
करहु सुफल सबके नयन सुन्दर बदन देखाइ ।। १/२१७/७

भगवान् श्री रामभद्र की महती अनुकम्पा और श्री बसन्तकुमारजी बिड़ला, सौजन्यमयी श्री सरलाजी बिड़ला के स्नेह और आग्रह से प्रतिवर्ष की परम्परा इस बार भी आज प्रारम्भ होने जा रही है। मुझे विश्वास है कि प्रतिवर्ष की भांति आप एकान्त और शान्त चित्त से मानस के इस ज्ञान-यज्ञ में भाग लेंगे। पिछले वर्ष बालकाण्ड के अहल्योद्धार-प्रसंग का समापन किया गया था, और विशेष रूप से रामनवमी के सन्दर्भ में भगवान् राम के प्राकट्य का क्या तत्त्व है, इसकी चर्चा की गई थी। प्रवचन के आरम्भ में उद्धृत पंक्तियों के अनुसार अहल्योद्धार के पश्चात् भगवान् श्री राम जनकपुरी में महर्षि विश्वामित्र के पास बैठे हुए हैं। श्री लक्ष्मणजी के हृदय में नगर-दर्शन की उत्कण्ठा है पर वे संकोच और भय के कारण कह नहीं पाते। उन्होंने प्रभु की ओर देखा और प्रभु उनके अन्तर्मन की बात समझ लेते हैं, और वे महर्षि विश्वामित्र की ओर देखते हैं। महर्षि विश्वामित्र ने प्रभु से पूछा, क्या आप कुछ कहना चाहते हैं? भगवान् श्री राम ने कहा कि गुरुदेव, लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं, पर आपके भय और संकोच के कारण वे कह नहीं पा रहे हैं। यदि आप आज्ञा दें तो मैं उन्हें नगर दिखा लाऊं? भगवान् राम के उक्त वाक्य को सुनते ही महर्षि विश्वामित्र सर्वथा भावविभोर हो जाते हैं और वे श्री राम को एक उपाधि देते हैं और वह उपाधि बड़े महत्त्व की है। महर्षि विश्वा-

मित्र कहते हैं कि राघवेन्द्र, तुमने मुझ से जो-कुछ पूछा है वह तो सर्वथा तुम्हारे उपयुक्त ही है; क्योंकि वस्तुतः तुम तो धर्मसेतु के संरक्षक हो। यहां महर्षि विश्वामित्र द्वारा श्रीराम को धर्मसेतु के संरक्षक की उपाधि दी गई और ठीक इससे मिलती-जुलती उपाधि गुरु वशिष्ठ द्वारा चित्रकूट की भूमि में भगवान् श्री राम को दी गई थी। इस पंक्ति में जहां भगवान् श्री राम को धर्मसेतु के संरक्षक के रूप में स्मरण किया गया है वहां गुरु वशिष्ठ चित्रकूट में कहते हैं कि वस्तुतः तुम स्वयं मूर्त्तिमान धर्मसेतु हो :

धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुं बिश्राम॥ २/२४८

वस्तुतः तुम तो धर्म के मूर्त्तिमान सेतु हो और इसका यत्किंचित् विस्तार अरण्यकाण्ड में हुआ। सेतु पुल को कहते हैं। बहुधा हम जब पुल की कल्पना करते हैं तो नदी के ऊपर पुल है, ऐसी कल्पना करते हैं। श्री राम को ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और महर्षि विश्वामित्र ने सेतु के रूप में स्मरण किया और उसका स्पष्टीकरण करते हैं सुतीक्ष्णजी। वे कहते हैं कि आप केवल नदी के सेतु नहीं, अपितु—**अति नागर भव सागर सेतु** है। अतः भगवान् श्री राम न केवल सेतु हैं अपितु सुतीक्ष्णजी के शब्दों में वे वस्तुतः संसार-सागर के सेतु हैं। सेतु का यह प्रतीक गोस्वामीजी को बहुत प्रिय है। यदि नदी को पार करना हो तो भी सेतु का बड़ा महत्त्व है। नदी को पार करने के लिए एक समर्थ व्यक्ति उसे तैरकर भी पार कर सकता है, कुछ लोग कर भी लेते हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति तैरकर उस पार नहीं जा सकता। यदि तैराकी का पौरुष-प्रदर्शन हो तो उसके निमित्त तो व्यक्ति तैरकर पार जाता है किन्तु साधारणतः नदी पार होने के लिए कोई तैराकी का आश्रय नहीं लेगा; क्योंकि स्वाभाविक है कि यदि व्यक्ति तैरकर नदी पार करने की चेष्टा करेगा तो उसके वस्त्र भीग जायेंगे, और वह कोई सामान लेकर नहीं जा सकेगा। किन्तु जहां तक समुद्र को पार करने का प्रश्न है वहां तो तैराकी का कोई महत्त्व ही नहीं है :

ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥ ७/११४/४

गोस्वामीजी ने कहा कि वह तो कोई महान् मूर्ख ही होगा जो समुद्र को तैरकर पार करना चाहे। ऐसी स्थिति में नदी अथवा समुद्र को पार करने के लिए व्यक्ति नौका या जहाज का आश्रय लेता है, लेकिन उसकी भी सीमा है। एक तो नौका की सामर्थ्य कितनी है, कितने यात्रियों को वह नौका ढो सकती है, उसका चालक कितना कुशल है और इतना होने पर भी सीमित संख्या में ही कोई कुशल नाविक लोगों को नदी के पार उतार सकता है। नदी अथवा समुद्र को पार करने का तीसरा माध्यम जो सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, वह है सेतु। सेतु का अभिप्राय यह है कि जब नदी पर पुल का निर्माण कर दिया जाता है तो फिर निर्बाध गति से प्रत्येक व्यक्ति उसके माध्यम से इस पार से उस पार पहुंच सकता है और दोनों पार के व्यक्ति एक-दूसरे के पास सरलता से आ-जा सकते हैं। गोस्वामीजी इसको इस अर्थ में लेते हैं कि नौका के द्वारा बहुत होगा तो कुछ व्यक्ति पार होंगे लेकिन जब सेतु का निर्माण हो जाता है तो एक विशेषता और आ जाती है :

अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकऊ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं ।।१/१३

आप तो नाविक या मल्लाह को उतराई देकर नाव से पार उतर सकते हैं, पर नन्ही-सी चींटी यदि पार होना चाहे तो कैसे पार हो ! उसे तो मल्लाह ले जाकर नाव पर नहीं बैठानेवाला है। अतः सेतु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके माध्यम से न केवल मनुष्य, पशु और पशु ही नहीं जो अत्यन्त क्षुद्र जन्तु है, बिलकुल नन्ही-सी चींटी भी पार हो जाती है। यह चींटी लघुता की प्रतीक है और इसका अभिप्राय यह है कि पार होने का माध्यम इतना महत् हो कि उसका लाभ केवल कुछ व्यक्तियों को प्राप्त न हो अपितु नन्हे-से-नन्हा प्राणी भी उसके द्वारा दूरी को पार कर सके। इस दृष्टि से गोस्वामीजी सेतु को सर्वश्रेष्ठ प्रतीक मानते हैं। भगवान् श्री राम को जब यह उपाधि दी गई कि श्री राम सेतु हैं तो मैं तो यही कहूंगा कि भगवान् राम के व्यक्तित्व की इससे बढ़कर कोई सार्थक व्याख्या नहीं हो सकती। लंका और भारत के बीच विशाल समुद्र लहरा रहा है और उस समुद्र को पार करने की समस्या है। यदि श्री राम के ईश्वरत्व पर विचार

करें तो पार होने की कोई समस्या नहीं है। लेकिन जहां एक ओर रामचरितमानस में बार-बार आग्रहपूर्वक कहा गया है कि श्री राम ईश्वर हैं, वहां उतने ही आग्रह से यह भी कहा गया है कि श्री राम ईश्वर होते हुए भी नरलीला करते हैं, मानव-लीला करते हैं—**चरित करत नर अनुहरत**। और उसका उद्देश्य भी यही है—**संसृति सागर सेतु**। संसार सागर पर सेतु का निर्माण करने के लिए भगवान् मानवीय चरित्र का आचरण प्रकट करते हैं। भगवान् श्री राम द्वारा समुद्र पार करते समय समस्या क्या है ? एक तो यह कि भगवान् श्री राम अकेले नहीं हैं। अगणित बन्दर इस समुद्र को पार करने के लिए उनके साथ हैं और श्री राम को सारे बन्दरों को भी पार ले जाना है। ऐसी स्थिति में भगवान् श्री राम अपने व्यक्तित्व का एक बड़ा विलक्षण पक्ष सामने रखते हैं। सेतु को केवल इसी अर्थ में मत लीजिए कि उन्होंने लंका और भारत के बीच बहुत बड़े सेतु का निर्माण किया अपितु भगवान् राम के व्यक्तित्व पर इस दृष्टि से विचार करके देखिये कि जैसे नदी के दो किनारे हैं और दोनों किनारों की दूरी के कारण इस पार और उस पार के व्यक्ति एक-दूसरे से सरलता से नहीं मिल पाते, और कहीं-कहीं तो यह दूरी समुद्र के समान इतनी विशाल प्रतीत होती है कि लगता है इस दूरी को तो किसी तरह से पाटा ही नहीं जा सकता। दूरी की यह समस्या समाज में सर्वदा रही है। यह व्यक्ति के जीवन में भी रहती है और समाज के जीवन में भी रहती है। समाज की तुलना यदि नदी से करें तो समाज के दोनों वर्ग एक-दूसरे से दूर हैं और एक-दूसरे से मिल नहीं पाते। फिर भले उसे आप 'जन' और 'बुध' कह लें। रामचरितमानस की विशेषता बताते हुए गोस्वामीजी इसके लिए शब्द चुनते हैं--**बुध बिश्राम सकल जन रंजनि**। अगर समाज नदी की तरह है तो उसका एक किनारा 'जन' और दूसरा किनारा 'बुध' है। एक ओर विद्वान् है तो दूसरी ओर साधारण समझवाला व्यक्ति है; एक ओर धनवान है तो दूसरी ओर निर्धन है; एक ओर बलवान है तो दूसरी ओर निर्बल व्यक्ति है। इतना ही नहीं, विचार के क्षेत्र में भी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दूरी पाई जाती है। एक महापुरुष की विचार-धारा कुछ है तो दूसरे महापुरुष की विचारधारा कुछ और है। भावनाओं में भी परस्पर दूरी दिखाई देती है। कभी-कभी तो एक ही

परिवार में रहनेवाले व्यक्ति परस्पर भावना की दृष्टि से एक-दूसरे से दूर दिखाई देते हैं, और व्यवहार में तो पग-पग पर दूरी का दर्शन होता है। ऐसी परिस्थिति में समाज में या जीवन में, बल्कि समाज और जीवन में ही नहीं हम तो यों कहेंगे कि अपने ही भीतर इतनी बड़ी दूरी है कि उस दूरी को हम पूरा नहीं कर पाते। हमारे ही मन और बुद्धि में इतनी दूरी पाई जाती है कि अगर बाहर की दूरी को छोड़कर अपने ही भीतर की दूरी पर विचार करें तो ऐसा लगने लगता है कि अरे, हम बाहर की दूरी क्या पार करेंगे जबकि अपने भीतरवाली दूरी को ही पार नहीं कर पा रहे हैं। स्वयं अपने में ही, अपनी बुद्धि में हम जिसे सत्य समझते हैं उसे हमारा मन स्वीकार नहीं करता। मन और बुद्धि के बीच हमारा अहंकार ऐसा लहरा रहा है कि उसे पार कर पाना सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में आन्तर जीवन और बाह्य जीवन में दूरी को कैसे दूर किया जाये, यह बड़ी समस्या है। इस दृष्टि से भगवान् राम के अवतार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भगवान् राम किसी एक किनारे के व्यक्ति नहीं हैं, भगवान् राम किसी एक विचारधारा के समर्थक नहीं और न वे किसी एक वर्ग के समर्थक हैं। अपितु जैसे सेतु का कार्य नदी के दोनों किनारों को एक-दूसरे से मिला देना है उसी प्रकार भगवान् राम के व्यक्तित्व का अनोखापन यही है कि चाहे भावना का क्षेत्र हो, चाहे विचार का क्षेत्र हो, चाहे व्यवहार का क्षेत्र हो जहां भी दूरी है वहां भगवान् राम का व्यक्तित्व सबके बीच सेतु बनकर मिलाने का काम कर रहा है। सेतु-निर्माण तो बाद में हुआ। पहले रामचरितमानस में संकेत आता है कि भगवान् श्री राम मंत्रिमण्डल के सामने प्रश्न रखते हैं कि इस विशाल समुद्र को कैसे पार किया जाये। इस पर विभीषण जो कुछ समय पहले ही आये थे और जिन्हें थोड़ी देर पहले मंत्रिमण्डल में सम्मिलित किया गया था, उत्साह में भरे हुए कहते हैं कि महाराज, मैं तो यह समझता हूं कि समुद्र आपका कुलगुरु है और यदि आप प्रार्थना करें तो उसके द्वारा ही किसी-न-किसी ऐसे उपाय का पता चलेगा जिससे सरलता से सेना पार हो जायेगी, इसलिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है :

प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥ ५/५०

लेकिन फिर वही दूरीवाली बात आ गई। समुद्र की दूरी तो बाद में आती है पहले तो व्यक्तियों की दूरी है। भगवान् राम ने तो विभीषण का यह वाक्य सुनते ही तुरन्त उनका समर्थन करते हुए कहा :

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।
करिअ दैव जौं होइ सहाई॥ ५/५०/१

मित्र तुमने तो बहुत सुन्दर उपाय बताया और उसके साथ एक वाक्य प्रभु ने और जोड़ दिया कि "अगर दैव सहायक होगा तो सफलता मिलेगी", जिससे ऐसा लगा कि विभीषण के समान भगवान् राम शान्ति-नीति के समर्थक हैं, दैववाद के समर्थक हैं या नियति की प्रबलता को स्वीकार करते हैं। पर उसी समय बोल पड़े लक्ष्मण। फिर लक्ष्मण और विभीषण के व्यक्तित्व की दूरी को क्या आप साधारण दूरी समझते हैं? भगवान् राम के सामने दो भाई हैं—एक अपना भाई और एक शत्रु का भाई। संयोग से लक्ष्मण भगवान् राम के छोटे भाई हैं तो विभीषण उनके शत्रु रावण का छोटा भाई है। किन्तु दोनों भाइयों में हर दृष्टि से बड़ा अन्तर है। दोनों की पद्धति ही बिलकुल अलग है। लक्ष्मण यदि भ्रातृप्रेम के अनुपम प्रतीक हैं तो विभीषण को भ्रातृप्रेम की दृष्टि से कभी आदर्श नहीं माना गया। बल्कि गोस्वामीजी तो दोहावली रामायण में कहते हैं कि लंका से लौटने के पश्चात् भगवान् राम ने जब भरत का विभीषण से परिचय कराया और भरत प्रेम से विभीषण से मिलने के लिए चले तो उस समय विभीषणजी ने मन में बहुत संकोच अनुभव किया। गोस्वामीजी कहते हैं :

राम सराहे, भरत उठि मिले राम सम जानि।
तदपि विभीषण कीसपति तुलसी गरत गलानि॥

दोहावली, २०८

यद्यपि भगवान् राम ने उनका प्रशंसापूर्ण परिचय दिया था और भरत ने भी उसका सम्मान किया पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उनके अन्तर्मन में कहीं-न-कहीं अपने भाइयों का विरोध करने के कारण ग्लानि की भावना काम कर रही है। लक्ष्मणजी भगवान् राम का

किसी भी परिस्थिति में परित्याग नहीं करते जबकि विभीषण के जीवन में उस प्रकार की विचारधारा नहीं थी। इतना ही नहीं विचार अथवा भावना की दृष्टि से भी दोनों में सर्वथा दूरी है। अगर विभीषण दैववाद के समर्थक हैं तो लक्ष्मणजी के जीवन में दैव कहीं फटकने भी नहीं पाता। वे तो शुद्ध पुरुषार्थवादी हैं, पुरुषार्थ के समर्थक हैं, अतः उन्होंने भगवान् राम की बात का विरोध करते हुए तुरत कहा :

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुख पावा॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा। ५/५०/२

जो अनिश्चित है उस पर क्या व्यक्ति को विश्वास करना चाहिए? दैव का अभिप्राय उसके भरोसे बैठ अनिश्चितता को स्वीकार कर लेना है—**नाथ दैव कर कवन भरोसा**। जो पुरुषार्थविहीन व्यक्ति हैं वे दैव का आश्रय लेते हैं पर आपके हाथ में यह धनुष-बाण किसलिए है? पुरुषार्थ का प्रतीक आपने यह शस्त्र उठा लिया है। ऐसी स्थिति में आप दैववाद का समर्थन कर रहे हैं :

नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥ ५/५०/३

यहां दो व्यक्ति आमने-सामने हैं, पर पास होते हुए भी वे कितने दूर हैं—विचार की दृष्टि से, भावना की दृष्टि से। किन्तु भगवान् राम किसके पक्ष में हैं? भगवान् राम किस किनारे पर हैं? भगवान् राम किनारे पर नहीं हैं, वे तो दोनों किनारों को जोड़नेवाले हैं, सेतु हैं। अतः भगवान् राम की जो सेतु-वृत्ति थी वह तुरत प्रकट हो गई। हो सकता था भगवान् राम लक्ष्मणजी की बात स्वीकार कर लेते और कह देते कि तुम बिलकुल ठीक कहते हो, हम धनुष-बाण के द्वारा समुद्र को पार करेंगे। अथवा यह कह देते कि नहीं, दैव ही सब-कुछ है और विभीषण ने बिलकुल ठीक कहा है; अतः मैं उनकी बात को स्वीकार करूंगा। परन्तु भगवान् राम ने दोनों को जोड़ दिया। जोड़ने का तात्पर्य यह है कि जहां भी दूरी है, उस दूरी के बीच कहीं कोई एकता है या नहीं, इस पर विचार कीजिए। हमारी दृष्टि दूरी पर तो जाती है पर हममें वह कला नहीं है कि हम यह ढूंढ़ सकें कि

दूरी के बीच एकता का कोई तत्त्व है या नहीं। जैसे मान लीजिए कि 'बुध' है और 'जन' है, इसलिए यह हो सकता है कि बुध और जन में समझ की दृष्टि से अन्तर हो, क्षमता का अन्तर हो, पर क्या कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है कि बुध और जन दोनों समान हों ? अगर आप ऐसे क्षेत्र की खोज करेंगे तो आपको कुछ कम क्षेत्र नहीं मिलेगा। भूख के क्षेत्र में, प्यास के क्षेत्र में, मानसिक उपलब्धि के क्षेत्र में बुध और जन दोनों की वृत्ति समान है। ऐसा नहीं है कि बुध सुख न पाना चाहता हो और जन सुख पाना चाहता हो। अतः इसका अभिप्राय यह है कि दोनों का जो केन्द्र है उसे जोड़ने की कला जो जानता हो वही सच्चे अर्थों में अपने व्यक्तित्व के द्वारा सेतुत्व का निर्माण कर सकता है। भगवान् श्री राम लक्ष्मणजी और विभीषण के कथन को इस दृष्टि से नहीं देखते कि दोनों के मत अलग-अलग हैं बल्कि वे इस दृष्टि से विचार करते हैं कि दोनों के अन्तःकरण में मेरे प्रति समान रूप से प्रगाढ़ प्रेम है। विभीषण जो सम्मति दे रहे हैं उसके पीछे भगवान् श्री राम के प्रति अपार प्रेम और सद्‌भाव है, और उनको ऐसा लगता है कि समुद्र को पार करने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही है; और जो लक्ष्मण कह रहे हैं उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! उनके हृदय में जितनी प्रीति, जितनी व्याकुलता है वह अद्वितीय है। यद्यपि दोनों अलग-अलग बातें कह रहे हैं किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है। दोनों के सामने सेतु को पार करने की समस्या है, पर मतभेद इस बात पर है कि उसे पार कैसे किया जाये। इसलिए भगवान् श्री राम दोनों को जोड़ देते हैं। जब उन्होंने विभीषण का समर्थन और लक्ष्मणजी ने उनका विरोध किया तो उस समय विभीषणजी का मुंह कुछ उतर गया। एक तो वे नये-नये आये थे, यह पहली सम्मति थी, मंत्रिमण्डल में अभी-अभी सम्मिलित किये गये थे और लक्ष्मण-जैसे तेजस्वी व्यक्ति ने जितने कठोर शब्दों में उनकी आलोचना की उससे विभीषणजी का मन थोड़ा छोटा हो जाये यह स्वाभाविक ही है। इससे उनके मन में यही आया होगा कि वे अपने परखे हुए छोटे भाई को छोड़कर मेरी सम्मति को क्यों महत्त्व देंगे। लेकिन विभीषण का हृदय उस समय कितना विकसित हो गया, कितना आनन्दित हो गया जब उन्होंने देखा कि भगवान् राम ने उनके मत को स्वीकार कर लिया। शायद विभीषण इस बात को सोचकर

चकित हो गये कि मैं सर्वथा नया व्यक्ति, शत्रु का छोटा भाई और ऐसी परिस्थिति में भी अपने छोटे भाई की तुलना में शत्रु के भाई के मत को इतना महत्त्व देना, इतना आदर देना श्री राम के अतिरिक्त शायद अन्य किसी के लिए सम्भव नहीं। पर लक्ष्मण को भी सन्तुष्ट करना भगवान् राम जानते हैं। अगर उन्होंने विभीषणजी का समर्थन वाणी से किया था तो लक्ष्मणजी का समर्थन अपनी हंसी से किया। कोई बात पसन्द आ जाती है तो व्यक्ति को हंसी आ ही जाती है, यह आनन्द की अभिव्यक्ति है। लक्ष्मणजी की बात सुनकर मत तो स्वीकार कर रहे हैं विभीषण का पर उसके साथ ही जुड़ा हुआ है एक वाक्य। और उस वाक्य के पहले—**सुनत बिहसि**—खूब हंसे। पहले तो लक्ष्मणजी की बात सुनकर देर तक हंसते ही रहे, आनन्द लेते रहे और उसके पश्चात् तुरत बोले :

सुनत बिहसि बोले रघुबीरा।
ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा।। ५/५०/५

भाई, यही करेंगे, थोड़ा धैर्य धारण करो। इसका अभिप्राय है कि भगवान् श्री राम दोनों के मत का समन्वय करना जानते हैं। इसके लिए वे कष्ट उठाते हैं। उन्हें यह ज्ञात है कि विभीषण के बताये हुए मार्ग से विलम्ब होगा। भगवान् श्री राम को लगता है कि तीन दिन का विलम्ब भले ही हो जाये पर दो व्यक्तियों की दूरी तो मिट जायेगी। इन दोनों में एक-दूसरे के प्रति मैत्री और स्नेह का उदय हो। और सचमुच विभीषण के प्रति लक्ष्मण के मन में अपरिमित अपनत्व उदित हो गया। प्रारम्भ में इतना गहरा मतभेद और बाद में ? यदि आप गीतावली रामायण पढ़ें तो उसमें वर्णन आता है कि लक्ष्मणजी को जो शक्ति लगी वह मेघनाद ने उन्हें लक्ष्य करके नहीं चलाई थी। वस्तुत: विभीषण को देखकर उसे क्रोध आ गया था और उसने सोचा कि यही व्यक्ति हमारे सारे कष्ट का कारण है, सारे रहस्य बतानेवाला है, इसलिए पहले इसे नष्ट किया जाये और बाद में इन दोनों राजकुमारों को देखूंगा। जब मेघनाद की फेंकी हुई शक्ति विभीषण की ओर चली तो उस समय कोई सामने नहीं आया। लेकिन धन्य हैं श्री लक्ष्मण। सचमुच श्री राम ने विभीषण को जितना महत्त्व दिया उससे उनके अन्त:करण में ईर्ष्या उत्पन्न नहीं हुई। यदि किसी व्यक्ति

के मत को अधिक महत्त्व दिया जाये तो कभी-कभी निकट के व्यक्तियों में भी दूरी आ जाती है। संसार में अधिकांश व्यक्ति निकटवालों को भी दूर बनाने की कला में निपुण होते हैं। वे अपने व्यवहार से परिवार में, समाज में और निकटवालों में ईर्ष्या-द्वेष की सृष्टि कर दूरी उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा लगता है कि भगवान् राम के आसपास तो जितने व्यक्ति हैं उन सबके व्यक्तित्व में इतनी बड़ी दूरी है कि शायद वे कभी मिल ही न पायें, उनमें कभी समझौता न हो पाये। पर भगवान् राम की विशेषता है ऐसी प्रेरणा दे देना जिससे आज लक्ष्मण के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मेरे जीवित रहते विभीषण की मृत्यु नहीं हो सकती, मैं विभीषण को नहीं मरने दूंगा। उन्होंने तुरत विभीषण को पीछे ढकेल दिया और उस शक्ति को अपनी छाती पर ले लिया। भगवान् श्री राम ने जब यह समाचार सुना तो लक्ष्मण के मूर्च्छित शरीर को हृदय से लगाकर प्रभु ने आंसू भरकर यही कहा कि लक्ष्मण तुमने मेरा व्रत सार्थक कर दिया :

मोरेपन की लाज यहां लगि निज प्रिय प्राण दये हैं।
लागत सांग बिभीषण ही पर सीपर आप भये हैं।।

विनयपत्रिका, ६/५

श्री लक्ष्मण और विभीषण के व्यक्तित्व की दूरी मिटा देना ही सेतु का कार्य है। पत्थर का पुल बनाना उतना कठिन नहीं जितना कठिन व्यक्तियों के बीच की दूरी को पाट देना है। भगवान् राम ने ऐसा ही समन्वय किया। वे समुद्र के किनारे अनशन करने के लिए बैठ गये और अनशन भी किया तो चुनाव कैसा बढ़िया किया—तीन दिन तक अनशन किया :

बिनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति। ५/५७

और फिर—**बोले राम सकोप तब**। शान्ति-सम आदि आवश्यक हैं कि क्रोध ? आपको दोनों के समर्थक मिल जायेंगे। कुछ लोग इतने उग्रवादी होते हैं कि हर समय क्रोध का ही समर्थन करते हैं और कुछ लोग इतने शान्तिवादी होते हैं कि सर्वदा निष्क्रियता, समझौते की ही बात किया करते हैं। इन दोनों में से भगवान् राम किसके समर्थक हैं ? वे तो सेतु हैं और सेतु का काम किसी एक के पक्ष में रहना नहीं

है। भगवान् श्री राम तीन दिन तक प्रतीक्षा करते हैं और इसका अभिप्राय है कि जीवन में अगर दोनों वृत्तियां हैं तो शान्ति और क्रोध दोनों का सदुपयोग करना चाहिए। और उसका सदुपयोग यह है कि हम शान्ति के द्वारा दूसरे के अन्तःकरण में प्रेरणा उत्पन्न करने की चेष्टा करें। अगर शान्ति के द्वारा कार्य सम्पन्न नहीं होता तो फिर रोष की भी आवश्यकता होती है। अतः भगवान् श्री राम ने तुरत :

बिनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब... ।। ५/५७

यह शब्द भगवान् राम के चरित्र का परिचायक है। दूसरा व्यक्ति श्री राम पर हंस सकता है कि अन्त में आपको भी तो क्रोध ही करना पड़ा। पर भगवान् राम तोड़ने के लिए नहीं जोड़ने के लिए क्रोध कर रहे हैं; भगवान् राम का वाक्य बताता है कि उनका दर्शन बड़ा अनूठा है। व्यक्ति शान्ति चाहेगा समझौते के लिए और क्रोध करेगा तोड़ने के लिए। किन्तु भगवान् राम कहते हैं कि मैं समुद्र पर क्रोध करूंगा क्योंकि :

बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति ।। ५/५७

करनी तो प्रीति ही है पर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो प्रीति से प्रीति नहीं करते, भय से प्रीति करते हैं। तो चलो भई, लक्ष्य तो हमारा भी प्रीति ही है, चाहे कोई भय से प्रीति करे, सद्भाव से प्रीति करे या चाहे प्रलोभन से प्रीति करे। प्रीति का लक्षण है एक-दूसरे को जोड़ना। भगवान् राम उस समय लक्ष्मणजी की ओर देखते हैं और कहते हैं :

लछिमन बान सरासन आनू। ५/५७/१

लक्ष्मण जरा धनुष-बाण तो ले आओ। लक्ष्मणजी बड़े प्रसन्न हुए और उनको बड़ा सन्तोष मिला कि चलो, भगवान् राम ने अधिक समय नहीं केवल तीन ही दिन व्यतीत किये और चौथे दिन माने। चौथे दिन के चुनाव का तात्पर्य यही है कि यदि सात दिनों का बंटवारा किया जाये तो तीन दिन एक ओर और तीन दिन दूसरी ओर होंगे। बीच का चौथा दिन ही ऐसा है जो दोनों के ठीक

मध्य में रहता है। यह चौथे दिनवाली बात बड़ी सार्थक है। भगवान् श्री राम चौथे दिन ही क्रोध करते हैं और क्रोध करने के पश्चात् कौन जीता--विभीषण या लक्ष्मण ? अगर भगवान् श्री राम अनशन ही करते रह जायें तो समझ लीजिए कि विभीषण के मत पर स्थिर हो गये और यदि समुद्र को सुखा दें तो लक्ष्मण के मत की जीत हो गई। किन्तु दोनों में से एक को थोड़े ही जिताना है, दोनों को जिताना है। और आगे लगा कि ये तो दोनों के समर्थक थे। किन्तु बात तीसरी ही भगवान् राम के मन में थी और दिखाई यह दे रहा था कि वे दोनों का समर्थन कर रहे हैं। इसका पता तब चला जब धनुष पर बाण चढ़ा दिया तो उसे सुखा देना चाहिए। लक्ष्मणजी का तो यही मत था, पर भगवान् राम ने वैसा नहीं किया। धनुष पर बाण चढ़ा लिया, पर रुके हुए हैं। बस, ज्यों ही प्रभु ने धनुष पर बाण चढ़ाया :

संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।
उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ।।
मकर उरग झष गन अकुलाने।
जरत जंतु जलनिधि जब जाने ।। ५/५७/६

भगवान् श्री राम के सामने प्रश्न है कि समुद्र को तो सुखाया जा सकता है किन्तु समुद्र के जलचर भी तो विनष्ट हो जायेंगे। विनष्ट कर देने की इस प्रक्रिया से केवल मेरे उद्देश्य की पूर्त्ति होगी, लेकिन कितने प्राणियों का व्यर्थ हनन होगा ! ये बेचारे किस अपराध के दोषी हैं कि इन्हें विनष्ट किया जाये। समुद्र भयभीत होकर भगवान् राम के सामने आ जाता है। उस समय भगवान् राम और समुद्र के बीच जो वार्त्तालाप होता है वह बड़ा सार्थक वार्त्तालाप है। समुद्र ने भगवान् राम से कहा कि महाराज, आपके हाथ में धनुष-बाण देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है और विशेष रूप से जब कि आपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया है। क्या महाराज सचमुच आपने मुझे सुखाने के लिए बाण चढ़ाया है ? समुद्र रहस्य को समझ गया था। समुद्र ने कहा कि महाराज, अगर आपने मुझे सुखाने के लिए ऐसा किया है, और लोग ऐसा समझते हों तो भी मैं नहीं मानता; क्योंकि मुझे सुखाने के लिए क्या आपको भी धनुष-बाण

चलाना पड़ेगा ? ईश्वर सृष्टि का निर्माण संकल्प से करता है, संकल्प से ही उसकी सृष्टि का विनाश हो जाता है। अत: आपने चाहा और मेरा निर्माण हो गया और आप चाहेंगे तो मैं सूख जाऊंगा। महाराज, यदि आप सचमुच मुझे सुखाना चाहते होते तो केवल सोचते, धनुष पर बाण न चढ़ाते। इसी से पता चल गया कि आप नाटक ही कर रहे हैं और इससे अधिक कुछ नहीं कर रहे हैं। ठीक है, आपने अच्छा ही किया। आपने अच्छे अभिनय का परिचय दिया। लेकिन प्रभु, अगर आप मुझे सुखाना चाहें तो संकल्प से सुखा दीजिए। मानवीय लीला में आप मुझे सुखाना चाहें तो बाण से सुखा दीजिए, लेकिन एक उपाय और है। और गोस्वामी जी कहते हैं कि समुद्र ने इतने मर्म की बात कही कि भगवान् राम बड़े प्रसन्न हुए। क्योंकि समुद्र ने ऐसी बात कही जो श्री राम के व्यक्तित्व का दर्शन थी, व्यक्तित्व के अनुकूल थी। समुद्र ने कहा कि महाराज, आपके गौरव की महिमा और प्रतिष्ठा तब होगी जब आप संकल्प से मुझे सुखाकर सारी सेना को पार उतार दें, और दूसरा उपाय यह है कि आप मेरे ऊपर सेतु का निर्माण करें। समुद्र ने मानो उस महामन्त्र को पकड़ लिया जो भगवान् राम का व्यक्तित्व है, उनके व्यक्तित्व का दर्शन है। आप मेरे ऊपर सेतु का निर्माण करें और सेतु के निर्माण में बन्दरों का और मेरा सहयोग लें। अब एक ओर तो समुद्र स्वयं चंचल है, उसकी लहरें बड़ी तीव्र हैं और यदि उसमें कोई वस्तु डाली जाये तो लहरें उसे दूर फेंक देंगी और दूसरी ओर बन्दर भी अत्यन्त चंचल हैं, अत्यन्त क्षुद्र और अत्यन्त छोटे हैं। पर समुद्र कहता है कि या तो आप मेरी और बन्दरों की सहायता से सेतु का निर्माण कीजिए और उसके माध्यम से सेना पार हो जाये या फिर दूसरा उपाय यह है कि आप मुझे सुखाकर चले जाइये। यदि आप मुझे सुखाकर चले जायेंगे तो इससे मेरा बड़प्पन नष्ट हो जायेगा। और भगवान् राम ने कौन-सा मार्ग चुना ? उन्होंने अपने बड़प्पन का मार्ग नहीं चुना। उनका जो प्रिय मार्ग था वही समुद्र ने बता दिया। भगवान् श्री राम ने तुरत कहा कि आपने तो बड़ी सुन्दर बात कही, अब आप बताइये कि सेना कैसे पार हो ? और उसके पश्चात् भगवान् श्री राम द्वारा समुद्र पर सेतु का निर्माण हुआ। एक तो समुद्र पर असम्भव को सम्भव करने की चेष्टा और असम्भव को भी साध्य

बनाया उन बन्दरों के द्वारा जो कि हर दृष्टि से हीन माने जाते हैं। कई बार लोग प्रश्न किया करते हैं कि भगवान् राम लंका के विरुद्ध युद्ध करना चाहते थे तो उन्होंने अयोध्या से सेना क्यों नहीं बुला ली ? किन्तु भगवान् श्री राम कोई उत्तर-दक्षिण का युद्ध थोड़े ही लड़ रहे थे। वस्तुतः भगवान् श्री राम तो यह बताना चाहते थे कि रावण शरीर की दृष्टि से जिनके सन्निकट है उनके और अपने बीच दूरी पैदा कर देता है। अपनों के बीच दूरी पैदा करना, दूसरों के बीच दूरी पैदा करना ही रावण की सबसे बड़ी सफलता है। अपने छोटे भाई विभीषण को अपने से दूर कर दिया और भगवान् राम की प्रिया सीताजी को भी उनसे दूर करने की चेष्टा की। ऐसी स्थिति में भगवान् राम तो यह बताना चाहते थे कि लंका पर विजय प्राप्त करने के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति की आवश्यकता नहीं। इसका अभिप्राय है कि अगर विशिष्ट व्यक्ति के जीवन में विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा कोई बड़ा काम ले लिया जाये तो यह सफलता नहीं। भगवान् राम यह दिखाना चाहते थे कि जो क्षुद्र माने जाते हैं, चंचल माने जाते हैं वे भी महान् कार्य कर सकते हैं। और सचमुच भगवान् श्री राम ने समुद्र पर सेतु का निर्माण कराया—बन्दरों के द्वारा। किन्तु उसके बाद एक बड़ा विनोद-भरा प्रसंग आ गया। जब सेतु का निर्माण हो गया तो जाम्बवान्‌जी ने कहा कि महाराज, सेतु तो बन गया पर समुद्र विशाल है, सेतु छोटा है, समय तो लगेगा सेना को पार होने में, पर लोग उतावले हो रहे हैं पार जाने के लिए। अतः भगवान् श्री राम ने एक सेतु का स्वयं ही निर्माण किया और वे उसका निर्माण करते हैं अपने सौन्दर्य के द्वारा। रामचरितमानस में बताया गया है कि भगवान् राम का नाम भी सेतु है, भगवान् राम का रूप भी सेतु है, भगवान् राम का चरित्र और भगवान् की कथा भी सेतु है, भगवान् राम का धाम भी सेतु है। अलग-अलग प्रसंगों में भगवान् राम की उन विशेषताओं की सेतु के रूप में कल्पना की गई है और इसी प्रसंग में जाम्बवान्‌जी ने भगवान् श्री राम के लिए वाक्य जोड़ा :

नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भव सागर तरहिं ॥ ६/०३

आपका नाम भी तो भवसेतु है। इसके पश्चात् राम के सौन्दर्य का सेतु सामने आया। क्षत्रिय राम का सौन्दर्य कैसा है—जोड़ने-वाला, मिलानेवाला है। भगवान् राम जब पत्थर के पुल पर जाकर खड़े हुए तो समुद्र के जितने जलचर थे वे सबके-सब ऊपर आ गये। अगर प्रभु श्री लक्ष्मणजी की बात मान लेते और समुद्र को सुखा देते तो जलचर नष्ट हो जाते। लेकिन भगवान् राम बताना चाहते थे कि लंका के युद्ध में ये जलचर भी सहायक बन सकते हैं जो बिलकुल अनुपयोगी लगते थे। पर वे जलजन्तु भी इस युद्ध-अभियान में सहायक बन सकते हैं, इसलिए भगवान् श्री राम एक नये दृश्य का दर्शन कराते हैं :

देखन कहुं प्रभु करुना कंदा।
प्रगट भये सब जलचर बृंदा ॥ ६/३/३

× ×

तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी।
मगन भए हरि रूप निहारी ॥ ६/३/८

भगवान् राम ने कहा कि मित्रो, अब तो पुल-ही-पुल है, चाहे जिधर से पार हो जाइये कोई समस्या नहीं है। कहीं जल दिखाई नहीं दे रहा है। बन्दर थोड़ा भयभीत हुए, क्योंकि उन्होंने अपने पुरुषार्थ से जो पुल बनाया था वह बड़ा सुदृढ़ लग रहा था, किन्तु जलचरों का पुल भी पुल हो सकता है, इस पर सन्देह होने लगा। उनके मन में आशंका थी कि अभी तो ये जलजन्तु ऊपर आ गये हैं पर पैर रखते ही अगर ये नीचे डूब जायें तो हम क्या करेंगे। भगवान् राम ने कहा कि अच्छा, आप लोग परीक्षा करके देखिए, तो गोस्वामीजी ने लिखा :

प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। ६/३/७

यही तो व्यक्तित्व का आकर्षण है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या, पशु-पक्षी भी भगवान् राम की ओर आकृष्ट होकर आ गये। यह वर्णन बीच में आया है, और फिर जलचरों के आकर्षण का उल्लेख किया गया है। जब भगवान् राम को देखते हुए इन जलचरों के

ऊपर पत्थर अथवा वृक्ष डाला जाता तो उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था :

प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे ।
मन हरिषत सब भए सुखारे ।। ६/३/७

हृदय में इतना आनन्द आ रहा है उसका अभिप्राय क्या है ? अभी तक जल में डूबे रहनेवाले इस समय श्री राम के सौन्दर्य के अमृत में डूबकर धन्य हो रहे हैं । भगवान् राम ने कहा, अब सेना पार हो जाये :

सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं ।
अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं ।। ६/४

जब प्रत्येक व्यक्ति मनमाने मार्ग से पार कर रहा था उस समय जाम्बवान्जी से नहीं रहा गया, उन्होंने भगवान् राम से कहा कि जब इतनी सरलता से आप इतना बढ़िया पुल बना सकते थे तो आपने बन्दरों से पुल क्यों बनवाया, इतना परिश्रम क्यों कराया ? भगवान् राम ने तुरन्त उत्तर दिया कि यह जो सेतु मैंने बनाया है उसे आप लोगों ने देखा कि कहां बनाया है ? आप लोगों ने ऊपर ही देखा, पुल देखा, किन्तु यह नहीं देखा कि वह क्यों-कैसे बना । मेरे मुख को आप लोगों ने देखा लेकिन मेरे चरण को नहीं देखा । अगर आप लोगों ने पत्थर का पुल न बनाया होता तो कहां खड़े होकर मैं नया पुल बनाता ? इसका अभिप्राय है कि ईश्वर कहता है कि पहले अपने पुरुषार्थ का पुल बनाओ उसके पश्चात् कृपा का पुल हम बना देंगे । इतना आधार तो तुम दो भाई ! जो क्षमता तुम्हें मिली हुई है उसका सदुपयोग तो तुम करो, फिर तुम्हारे संकल्प की आधार-भूमि पर खड़े होकर मैं निर्माण करूंगा । और तिस पर प्रभु की विशेषता क्या है ? अगर प्रभु अपने चमत्कार से सारे कार्य कर दे तो मनुष्य में निष्क्रियता आ जायेगी और सारे कार्य पुरुषार्थ से ही सम्पन्न हो जाने दे तो मनुष्य में अहंकार आ जायेगा । दोनों ओर बड़ा संकट है। अगर व्यक्ति हर समय सफल-ही-सफल होता रहे तो अहंकारी बने बिना नहीं रहेगा, और व्यक्ति कुछ न करे और बिना कुछ किये ही सफल होता रहे तो निष्क्रियता आ जायेगी । अतः भगवान् राम दोनों का सन्तुलन करते हैं । पहले पुरुषार्थ कराते हैं, और उसके पश्चात् अपनी

कृपा का दर्शन कराते हैं और कृपा के दर्शन के साथ-साथ प्रत्येक बन्दर के मन में यह भावना उत्पन्न कर देना चाहते हैं कि वह महान् कार्य करनेवाला है। जब भगवान् राम ने पुल पार किया तो जाम्बवान्जी का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया और कहा, जाम्बवान्जी आपने देखा कि बन्दर तो मेरे बनाये पुल से पार हुए पर मैं तो आप लोगों के बनाये पुल से पार हुआ, इसलिए हमारा आपका नाता बराबरी का ही है। आप हमारे लिए सेतु बनायें, हम आपके लिए सेतु बनायें और इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के सन्तरण के माध्यम बन सकें। भगवान् श्री राम ने सेतु का निर्माण कराकर सेना को पार कर दिया और इसीलिए गोस्वामीजी ने सुन्दरकाण्ड के अन्त में जो फल का दोहा लिखा उसमें वे कहते हैं :

सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥ ५/६०

सुन्दरकाण्ड की यह कथा जो सुने वह पार हो जाये। किसी ने कहा कि महाराज, यह तो रामायण-भर में आपने बार-बार कहा कि पार हो जायें--पार हो जायें, यहां कोई नई विशेषता है क्या? हां, एक विशेषता है :

सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥ ५/६०

जहाज के द्वारा समुद्र पार करते तो आपने देखा होगा पर क्या बिना जहाज के भी किसी को पार उतरते देखा है? इसका सांकेतिक तत्त्व है—जहाज। गोस्वामीजी ने नाव और मल्लाह का प्रतीक बनाया है। नाव है विद्या और विद्वान् है मल्लाह :

केवट बुध विद्या बड़ि नावा। २/२७५/४

विद्या बड़ी नौका है और बुधजन मल्लाह हैं। मगर संकेत यह है कि जब तक समुद्र को जहाज या नौका के द्वारा पार करना है तब तक बुध और विद्यावाला व्यक्ति ही हमें पार उतार सकता है, ऐसा प्रतीत होता है। लेकिन गोस्वामीजी विश्वास दिलाते हैं कि आप समुद्र को पार कर लेंगे पर अब आपको जहाज की आवश्यकता नहीं।

मानो गोस्वामीजी संकेत करना चाहते हैं कि जब श्री राम स्वयं सेतु का निर्माण कर रहे हैं तो क्या आवश्यकता है कि हम जहाज ढूंढ़ें, क्या आवश्यकता है कि हम नौका ढूंढ़ें या मल्लाह को ढूंढ़ें ? श्री राम के व्यक्तित्व के सेतु के माध्यम से—चाहे वह नाम का सेतु हो, चाहे रूप का सेतु हो, चाहे चरित्र का सेतु हो—हम इस दूरी को पार कर सकते हैं। अगर गोस्वामीजी की आध्यात्मिक भाषा में कहें तो मनुष्य के अन्त:करण में :

कुणप अभिमान सागर भयकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपारम् ।
विनयपत्रिका, ५८

देहाभिमान का समुद्र लहरा रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री राम का जो चरित्र है, व्यक्तित्व है उससे बढ़कर इस कार्य को करने में कोई सफल नहीं। गुरु विश्वामित्र और वशिष्ठ द्वारा इन दोनों उपाधियों के दिये जाने के पीछे तात्पर्य है कि शिष्य को योग्यता का प्रमाण-पत्र तो गुरु ही दे सकता है और ये दोनों बड़े कड़े परीक्षक हैं। गुरु वशिष्ठ जितने कड़े परीक्षक हैं उससे सौ गुना अधिक कड़े परीक्षक हैं विश्वामित्रजी। पर दोनों के मुंह से श्री राम के लिए एक ही उपाधि निकली। दोनों ने कहा कि श्रीराम तुम तो सेतु हो। वस्तुत: जब दोनों ने भगवान् राम को सेतु कहा तो यह गुरु के रूप में भगवान् श्री राम के व्यक्तित्व की व्याख्या थी। हम चाहें तो यों भी कह सकते हैं कि इन दोनों महापुरुषों के मन में एक ही बात क्यों आई ? उसका रहस्य यह था कि ये दोनों महात्मा भी नदी के दो किनारों की तरह एक-दूसरे से इतनी दूर थे कि अगर भगवान् राम सेतु के रूप में न आते तो दोनों मिल ही न पाते। विश्वामित्र और वशिष्ठ के संघर्ष के बारे में आपने पुराणों में पढ़ा होगा, सुना होगा। इतना बड़ा झगड़ा—दो महापुरुष, दोनों महान् तपस्वी, दोनों योग्य। पर इसका अभिप्राय क्या है ? दोनों के बीच बड़ी भारी दूरी थी और वह दूरी इतनी बड़ी थी कि एक ओर तो रावण द्वारा समाज में अत्याचार हो रहा था और दूसरी ओर इतने बड़े-बड़े महापुरुष थे, जिनमें तपस्या की इतनी बड़ी शक्ति थी पर जो आपस में संघर्षशील थे। चुनाव भी भगवान् श्री राम ने कैसा किया—गुरु बनाया तो एक को नहीं, दो को बनाया जो आपस में विरोधी थे। विश्वामित्र और

वशिष्ठ में इतना विरोध है, पर भगवान् राम से पूछा जाये कि आपके गुरु कौन हैं तो वे एक ओर गुरु वशिष्ठ के चरणों में देखते हैं और दूसरी ओर विश्वामित्र के। जब भगवान् राम सीताजी से विवाह करके लौटे तो उसका सबसे बड़ा आनन्द यह था कि उक्त दोनों महात्मा भी साथ-साथ अयोध्या लौटे। इन दोनों महात्माओं का अयोध्या में मिलन इस सेतु के माध्यम से हुआ। और सबसे अधिक आनन्द कब आया ? विश्वामित्रजी चाहते थे कि एक बार वशिष्ठजी जीवन में मुझे ब्रह्मर्षि कह दें। और वशिष्ठजी इस विषय में इतने दृढ़ और कठोर बने हुए थे कि सारा संसार कह दे किन्तु मैं नहीं कहूंगा। इतना विरोध कि अपनी तपस्या की शक्ति दिखाने के लिए विश्वामित्र ने क्रोध में आकर वशिष्ठ के पुत्र को जला दिया। जरा कल्पना कीजिए कितनी बड़ी दूरी दोनों में उत्पन्न हो गई होगी। कितनी ही दुर्घटनाएं हुई इस बीच जिनकी अनगिनत गाथाएं पुराणों में हैं। लेकिन आज क्या है ? विवाह के दूसरे दिन जब अयोध्या लौटकर आये तो सभा में गुरु वशिष्ठ कथा सुनानेवाले आसन पर बैठे। लोगों ने सोचा कि आज गुरुदेव शायद विवाह की कथा सुनायेंगे कि कैसे जनकपुर में श्री राम-सीता का विवाह सम्पन्न हुआ। किन्तु गोस्वामीजी ने कहा कि वशिष्ठजी ने आज विवाह की कथा नहीं सुनाई बल्कि :

मुनि मन अगम गाधिसुत करनी।
मुदित बसिष्ट बिपुल बिधि बरनी॥ १/३५८/६

विश्वामित्रजी का चरित्र सुनाने लगे। बोले, विवाह में सारा श्रेय तो महर्षि विश्वामित्र-जैसे सन्त को है। इन्हीं के द्वारा विवाह सम्पन्न हुआ और वे कितने महान् तपस्वी हैं कि इतना महान् कार्य किया। जो तीन अक्षर का एक शब्द नहीं कह पाता था वह कथा के आसन पर बैठकर लगा भूरि-भूरि प्रशंसा करने। सारी अयोध्या में आनन्द छा गया। लोग प्रसन्न हुए कि दो महापुरुषों में जो दूरी थी आज वह मिट गई। किन्तु सबसे अधिक आनन्द आया :

सुनि आनन्दु भयउ सब काहू।
राम लखन उर अधिक उछाहू॥ १/३५८/८

भगवान् राम ने लक्ष्मण की ओर और लक्ष्मण ने भगवान् की ओर देखा। दोनों का संकेत यह था कि जैसे हम दोनों की जोड़ी है इसी तरह दोनों गुरुओं की भी जोड़ी बन गई। चलो, अब झगड़े की कोई बात नहीं रही। हमारे-तुम्हारे स्वभाव में भी तो भिन्नता है। अगर बहिरंग दृष्टि से होता तो हममें-तुममें बड़ी दूरी होती, पर हम दोनों में जैसे दूरी नहीं स्नेह है जो हम दोनों को जोड़े हुए है, उसी प्रकार आज हमारे दोनों गुरु भी स्नेह-बन्धन में आबद्ध हो गये। सचमुच श्री राम का सेतुत्व अनोखा है। भगवान् राम तो जहां गये उन्होंने इस प्रकार से सेतु बनाकर सारे समाज को एक-दूसरे के निकट ला दिया। इसकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

13/6/2009

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

२

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीति।
कस न राम तुम्ह राखहु नीती ॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता।
प्रेम बिबस सेवक सुखदाता ॥
जाइ देखि आवहु नगरु सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन सुन्दर बदन देखाइ ॥ १/२१७/७

महर्षि विश्वामित्र द्वारा भगवान् श्री राम की जो सांकेतिक प्रशंसा की गई है, हम उसके स्वरूप पर विचार करें। जैसा कि पिछले प्रवचन में कहा गया था कि सेतु का कार्य नदी के दो किनारों को एक-दूसरे से मिला देना है। सेतु के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति इस पार से उस पार और उस पार से इस पार आ-जा सकता है। महर्षि वशिष्ठ तो भगवान् श्री राम की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि तुम साक्षात् धर्मसेतु हो :

धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम। २/२४८

दूसरी ओर महर्षि विश्वामित्र उन्हें धर्मसेतु के संरक्षक की उपाधि देते हैं :

धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। १/२१७/८

दोनों के तात्पर्य में थोड़ी-सी ही भिन्नता है, पर दोनों का निहित उद्देश्य एक ही है। दोनों में धर्म का उल्लेख सेतु के रूप में किया गया है। स्वयं श्री राम साक्षात् सेतु हैं या सेतु के संरक्षक हैं, इसकी दोनों ही प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। धर्म का मुख्य कार्य मिलाना है, दूरी को बढ़ाना नहीं। यदि धर्म के द्वारा समाज में दूरी और द्वेष की सृष्टि होती है, यदि धर्म के द्वारा मनुष्य के

अन्त:करण की असद्भावनाओं में वृद्धि होती है तो सच्चे अर्थों में वह धर्म है ही नहीं। जैसे किसी नदी पर यदि ऐसा पुल हो जो बीच से टूटा हुआ है तो वह पुल न होने की अपेक्षा कहीं अधिक भयानक है। क्योंकि पुल न होने पर तो व्यक्ति को इस बात का ज्ञान होता है कि यदि नदी को पार करना अभीष्ट है तो मुझे किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना होगा, लेकिन अगर टूटे हुए सेतु को व्यक्ति ने माध्यम बना लिया और वह उस खण्डित सेतु के द्वारा पार पाने की चेष्टा करे तो उसका नदी में गिर पड़ना ही अधिक सम्भव है। तात्पर्य यह है कि जिसके जीवन में धर्म नहीं है वह न तो धर्म की उपयोगिता स्वीकार करता है और न धर्म का आचरण करता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन में धर्म को तो स्वीकार करता है पर उसका धर्म अखण्ड धर्म न होकर खण्डित धर्म हो तो वह सेतु के रूप में मिलानेवाला न होकर मनुष्य के अन्त:करण में विद्वेष की सृष्टि करनेवाला धर्म है। अत: उस धर्म पर आरूढ़ व्यक्ति निश्चित रूप से नीचे ही गिरेगा। भगवान् राम अपने चरित्र के द्वारा धर्म की सच्ची व्याख्या प्रस्तुत करते हुए यह दिखा देते हैं कि परस्पर विभेदों को मिटाकर मिलन करा देना ही धर्म का वास्तविक उद्देश्य है। इस सन्दर्भ में रामचरितमानस में अनेक स्थलों पर यह चर्चा आती है कि धर्म की वास्तविक व्याख्या क्या है। यों प्रत्येक व्याख्याता तर्कपूर्ण युक्तियों से अपनी मान्यताओं की पुष्टि करता है लेकिन मुख्य बात यह है कि उसकी कसौटी क्या है। इसे हम यों कह सकते हैं कि अगर किसी वृक्ष के विषय में विवाद उठ खड़ा हो कि यह वृक्ष किसका है तो इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि इसको केवल तर्क के द्वारा सिद्ध करने की अपेक्षा उसके फल को देखकर निर्णय करना सरल हो जाता है। अभिप्राय यह है कि धर्म की सच्ची व्याख्या का ठीक निर्णय इसी रूप में किया जा सकता है कि व्यक्ति और समाज के जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, व्यक्ति और समाज ने उसका क्या तात्पर्य लिया। इस समय मुझे एक संस्मरण याद आ रहा है। दो-तीन वर्ष पहले की बात है कानपुर के हमारे एक बड़े निकटस्थ पत्रकार हैं, जो बहुत वर्षों से निरन्तर कथा श्रवण करते आ रहे हैं। जब वे कार्य से निवृत्त हुए तो उनके सम्मान में एक सभा आयोजित की गई और मेरे और

उनके सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए मुझे भी उसमें आमन्त्रित किया गया। वहां मुझसे कहा गया कि पत्रकारिता पर कुछ कहिए। मैं तो रामायण के सम्बन्ध में ही बोलता हूं और मैंने उस समय जो-कुछ कहा था, इस प्रसंग में उसकी उपयोगिता है। अतः मैंने कहा कि भई, संवाददाता दो तरह के हो सकते हैं—मंथरा की तरह और हनुमानजी की तरह। ये दोनों रामायण के संवाददाता हैं, और इन दोनों के संवाद का जो परिणाम होता है उसी के आधार पर हम संवाददाता की योग्यता की परीक्षा करेंगे। साधारणतः संवाददाता यही कहता है कि मैं सही-सही कह रहा हूं, मैं सत्य कह रहा हूं। लेकिन क्या सत्य कहना ही यथेष्ट है या सत्य का किसी परिणाम से भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है ? मानस में सत्य को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया गया है :

धरमु न दूसर सत्य समाना। २/६४/५

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और मंथरा ने सबसे पहले इसी धर्म की दुहाई दी। मंथरा ने कहा कि देखिए हो सकता है कोई मेरी बात की आलोचना करे लेकिन मैं तो आपसे इतना ही कह सकती हूं :

खाइए पहिरिअ राज तुम्हारें।
सत्य कहें नहिं दोषु हमारें॥ २/१८/४

मैं आपके निकट सेवा में रहती हूं, आप मेरा पालन-पोषण करती हैं, इसलिए अगर मैं सत्य कहती हूं तो इसमें मेरा रंचमात्र दोष नहीं है। अपितु मुझे गर्व है कि इतने अयोध्यावासियों में एकमात्र मैंने ही सत्यनिष्ठा से प्रेरित होकर कितने साहस का प्रदर्शन किया है। किन्तु मंथरा के सत्य ने दूरी और द्वेष की सृष्टि कर दी। जिन कैकेयी और श्री राम में इतना सामीप्य था, जिस अयोध्या के राजकुल में परस्पर इतना प्रेम था, वहां मंथरा के सत्य ने ऐसा संघर्ष करा दिया कि उसका परिणाम लोगों को चौदह वर्ष तक भोगना पड़ा। श्री राम को वन जाना पड़ा, रामराज्य की स्थापना की घड़ी दूर चली गई, और यह सब हुआ था 'सत्य' के नाम पर। मंथरा अपनी बात रखने की कला में बड़ी निपुण थी। उसके लिए गोस्वामीजी ने बड़े सार्थक शब्द का प्रयोग किया—**रचि पचि** :

रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु। २/१८

किसी वस्तु का निर्माण करना रचना है। पहले कारीगर किसी वस्तु की रचना करता है और फिर उसमें किसी वस्तु को जड़ देता है, यह पच्चीकारी है। महाराज जनक द्वारा विवाह के उपलक्ष्य में जब नगर को सजाने की आज्ञा दी गई तब भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। नगर-निर्माताओं के लिए गोस्वामीजी ने लिखा :

तेहि के रचि पचि बंध बनाए।
बिच बिच मुकुता दाम सुहाए॥ १/२८७/३

महाराज जनक ने कारीगरों को बुलाकर कहा कि तुम नगर को सजाओ, और उन्होंने बड़ी सुन्दर रचना कर उसमें पच्चीकारी करके नगर को सजा दिया। मंथरा भी इन दोनों कलाओं में बड़ी निपुण थी। कारीगर यदि भवन के शिल्पी थे तो वह शब्द-शिल्पी थी, शब्दों की कारीगर थी। इसलिए गोस्वामीजी मंथरा के लिए भी ठीक उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं—**रचि पचि कोटिक कुटिलपन,** अर्थात् पच्चीकारी से अगर सौन्दर्य की वृद्धि हो तब तो वह सार्थक है, लेकिन यदि व्यक्ति ऐसी पच्चीकारी करे (कोई ऐसी वस्तु जड़ दे) कि जिसको छूते ही किसी की अंगुली घायल हो जाये या उसमें उलझकर किसी का वस्त्र फट जाये तो ऐसी पच्चीकारी को तो दूर से ही नमस्कार है। मंथरा ऐसी ही पच्चीकार है। जब वह अपनी शब्द-कला का प्रदर्शन करती है तो उसमें भ्रामक सौन्दर्य की सृष्टि भी कर देती है। असत्य को सत्य की कला में जड़ने में यदि कोई निपुण है तो वह मंथरा है। आप देखिए, सत्य केवल इतना था कि श्री भरत को नहीं बुलाया गया था। उसने इसी वाक्य को पकड़ लिया और फिर ऐसी पच्चीकारी की कि कैकेयीजी उसमें उलझकर रह गईं। मंथरा ने समाचार दिया कि राम को राज्य प्राप्त होनेवाला है। कैकेयीजी ने कहा कि तो इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है! इस पर मंथरा तुरन्त एक प्रश्न उनके सामने रख देती है कि आप जिस राज्याभिषेक के समाचार से इतनी प्रसन्न हो रही हैं उससे भरत को क्यों वंचित रखा गया। कैकेयीजी चौंक पड़ीं। यह तो सत्य था कि भरत को नहीं बुलाया गया था, लेकिन उसी वाक्य को पकड़कर

उसने ऐसी उत्कृष्ट रचना की कि उस पच्चीकारी को देखकर कैकेयीजी चकित रह गईं। मंथरा ने कहा कि जरा सोचिए तो आप कितने उदार हृदय की हैं कि आपको श्री राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर अपार प्रसन्नता हुई किन्तु ऐसे सुअवसर पर आपके प्रिय पुत्र को नहीं बुलाया गया, इसके पीछे क्या रहस्य है? इस प्रकार संवाददाता ने सत्य की ऐसी कुटिल व्याख्या की कि सारा अर्थ ही बदल गया। उसने कहा कि मैं बताती हूं इसके पीछे क्या बात है। वह कहने लगी कि आपको पता नहीं, सारी रानियों में महाराज दशरथ आपसे सर्वाधिक प्रेम करते हैं और ऐसी स्थिति में क्या कौशल्या और सुमित्रा के हृदय को आघात नहीं लगता होगा? कैकेयीजी कह सकती हैं कि मंथरा, कौशल्याजी का विद्वेष मेरे प्रति व्यवहार में तो कभी प्रकट नहीं हुआ। किन्तु वह उसकी व्याख्या करते हुए तुरन्त कहती है :

राजहि तुम्ह पर प्रेम बिशेषी।
सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥ २/१७/५

यह तो याद कीजिए कि आपसे उनका नाता क्या है? अरे सौत है, सौत! क्या कभी कोई सौत दूसरी सौत का उत्कर्ष सह सकती है? कैकेयीजी ने पूछा कि फिर इतने दिन क्यों नहीं बोली? इसके उत्तर में मंथरा कहती है :

चतुर गंभीर राम महतारी। २/१७/१

राम की माता की विशेषता ही यह है कि वे बड़ी गम्भीर हैं। अपने द्वेष और विरोध को भी तुरन्त प्रकट करना नहीं चाहतीं। इसलिए वे चतुराई से समय की प्रतीक्षा कर रही थीं कि कब आपसे बदला लें। अब उन्हें वह अवसर मिल गया तो उन्होंने मनोनुकूल निर्णय करा लिया :

रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई।
राम तिलक हित लगन धराई॥ २/१७/६

राघवेन्द्र के राज्याभिषेक का प्रस्ताव कौशल्याजी द्वारा नहीं किया गया था और सत्य से इसका रंचमात्र सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः

प्रस्तावक स्वयं महाराज दशरथ थे, समर्थक मन्त्री और प्रजा थी और गुरु वशिष्ठ द्वारा उसका पूर्ण अनुमोदन किया गया था। लेकिन वह कहती है कि राज्याभिषेक का यह प्रस्ताव महाराज दशरथ के समक्ष कौशल्याजी ने रखा और उन्होंने ही ऐसी योजना बनाई कि इस अवसर पर आपके पितृगृह द्वारा कोई बाधा उपस्थित न हो। इसीलिए भरत को निमन्त्रण नहीं दिया गया। कैकेयीजी यह सुनकर घबरा गईं। और जब मंथरा ने देखा कि वे घबरा गई हैं तो उसने कहा कि यह तो मैंने पीछे का भाग सुनाया, किन्तु आगे ऐसा होनेवाला है कि राम तो बैठेंगे सिंहासन पर और भरत डाल दिये जायेंगे कारागार में :

भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ।। २/१९

और लक्ष्मण राम की ओर से आनन्द से राज्य चलायेंगे। सारी सत्ता लक्ष्मण के हाथों में केन्द्रित होनेवाली है। भरत कारागार में होंगे और आपको कारागार में तो नहीं डाला जायेगा लेकिन याद रखिए कि आपको एक कार्य अवश्य करना पड़ेगा :

जौं सुत सहित करहु सेवकाई।
तौ घर रहहु न आन उपाई ।। २/१८/८

आपको भी पूरी तरह से कौशल्याजी की सेवा में रहना पड़ेगा। अगर आप इस तरह रहेंगी तो रहने पायेंगी, नहीं तो आपको भी कारागार में डाल दिया जायेगा। मंथरा द्वारा भूत की ऐसी विलक्षण व्याख्या की गई, भविष्य का ऐसा भयानक चित्र खींचा गया जिसे देखकर गोस्वामीजी को लिखना पड़ा कि वह सचमुच कलाकार है :

रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु। २/१८

जिस समय मंथरा पुराणों की कथाएं सुनाने लगी तो कैकेयी को लगा कि अरे, मैंने जिस दासी को अनपढ़ समझ लिया था वह तो महापण्डिता है, वह इतनी बड़ी कथावाचिका है कि जिसकी कोई तुलना नहीं। गोस्वामीजी कहते हैं कि सत्य के नाम पर जो किया जा रहा था उसका अन्तिम उद्देश्य था :

रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।
कहिसि कथा सत सवति के... ।। २/१८

सम्पूर्ण पुराणों में जहां-जहां सौतों के झगड़े का वर्णन आया था उसने वही कथाएं सुनाईं और उन सब कथाओं को सुनाने का उद्देश्य था--**जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु**, घर में विरोध कैसे बढ़े, कौशल्याजी के प्रति आक्रोश कैसे उत्पन्न हो। सचमुच उसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह सत्य के नाम पर कैकेयीजी को इतना प्रभावित कर देती है कि उनके अन्तःकरण में द्वेष की सृष्टि हो गई। भूत की व्याख्या और भविष्य की आशंका द्वारा उन्हें संत्रस्त कर दिया गया और उसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि कैकेयीजी दृढ़ निश्चय कर लेती हैं :

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ॥ २/३३

सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि अयोध्या में जो-कुछ हुआ वह सब सत्य के नाम पर हुआ। मंथरा ने जो-कुछ कहा, सत्य में असत्य की पच्चीकारी की और उसे सत्य का नाम दिया। कैकेयीजी ने महाराज दशरथ से इतना वार्त्तालाप किया किन्तु पूरे वार्त्तालाप में सबसे अधिक दुहाई अगर किसी बात की दी गई तो सत्य की। उन्होंने यह भी स्मरण दिलाया कि आपका जन्म तो सूर्यवंश में हुआ है। क्या वास्तव में दशरथजी को यह याद दिलाने की आवश्यकता है कि उनका जन्म किस वंश में हुआ है ? फिर यह बताया कि आपके वंश में सत्य के लिए लोगों ने कितने बड़े-बड़े त्याग किये थे। ऊंची कथाएं सुनाई जा रही हैं और ये सब कथाएं सुनाने का अन्तिम उद्देश्य है—सत्य। जब महाराज दशरथ वरदान देने में आनाकानी करने लगे तो कैकेयी ने कहा :

सत्य सराहि कहेहु बरु देना।
जानेहु लेइहि मांगि चबेना ॥ २/२९/६

क्या आप समझते थे कि मैं आपसे चने की दो मुट्ठी वरदान में मांगनेवाली हूं ? अगर आप सत्यनिष्ठ हैं तो :

देहु कि लेहु अजसु करि नाहीं।
मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं ॥ २/३२/६

मुझे बहुत बखेड़ा अच्छा नहीं लगता, मैं तो आपके जीवन में सत्य

की प्रतिष्ठा देखना चाहती हूं। एक ओर मंथरा सत्य के नाम पर विद्वेष की सृष्टि करती है, और दूसरी ओर कैकेयीजी भी सत्य के नाम पर स्वार्थ-सिद्धि के लिए उद्यत हैं। यदि सत्य का उद्देश्य केवल विद्वेष और स्वार्थ-साधन ही है तो फिर असत्य का उद्देश्य क्या रह गया, असत्य में क्या बुराई रह गई ? इस प्रकार एक संवाददाता यह मंथरा है जो धर्म की आड़ लेकर सत्य के नाम पर ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करती है, और इसके विपरीत द्वितीय संवाददाता के रूप में आते हैं श्री हनुमानजी। एक झगड़ा करानेवाला संवाददाता है तो दूसरा मिलानेवाला। हनुमानजी का कार्य यह है कि जहां रावण द्वारा भगवान् राम और श्री सीताजी के बीच (वन-प्रान्तर, अगाध समुद्र और समुद्र-पार लंका तथा लंका के मध्य अशोक-वाटिका) लंबी दूरी पैदा कर दी गई है, वहां भी वे सन्देश लेकर जाते हैं। सन्देश की दृष्टि से देखें तो हनुमानजी ने केवल एक बार सत्य की दुहाई दी—**सत्य सपथ करुनानिधान की,** और वह भी केवल श्री सीताजी के सन्देह को दूर करने के लिए। जबकि यह बड़ी मनोरंजक बात है कि मंथरा ने बार-बार सत्य की दुहाई दी। हनुमानजी उसकी जो व्याख्या करते हैं वह तो बस देखने की बात है। तात्पर्य यह है कि श्री हनुमानजी भी वास्तव में वही कार्य करते हैं जो भगवान् श्री राम का है। हनुमानजी स्वयं तो आकाश-मार्ग से समुद्र को लांघ जाते हैं और भगवान् राम के सेवक के रूप में उनके आदर्श को ही अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं। वे सेतु बनकर सचमुच दोनों को मिलानेवाली भूमिका सम्पन्न करते हैं। जिस समय हनुमानजी श्री सीताजी के समक्ष पहुंचे तो उन्होंने प्रभु का कुशल-क्षेम पूछा और कुशल-क्षेम पूछते-पूछते अचानक श्री सीताजी रो पड़ीं, उनका गला रुंध गया और वे बोल नहीं पाईं। हनुमानजी ने पूछा कि मां, क्या रावण के यहां आपको बहुत अधिक कष्ट दिया जा रहा है, इसीलिए आप रो रही हैं और विलाप कर रही हैं ? क्या यह सब रावण के अत्याचार के कारण ही हो रहा है ? तो क्या मैं उस दुष्ट को दण्ड दूं ? श्री सीताजी ने कहा कि हनुमान, रावण के अत्याचार से मुझे उतना दुःख नहीं है जितना दुःख मुझे दूसरी बात से है; क्योंकि रावण का अत्याचार तो उसके स्वभाव के अनुकूल ही है। रुंधे हुए कंठ से उन्होंने कहा :

अहह नाथ हौं निपट बिसारी ।। ५/१३/७

जब मैं यह सोचती हूं कि सर्वसमर्थ हमारे प्रभु जिनके प्रति मैं पूरी तरह से समर्पिता हूं (जिनका मेरे प्रति इतना अनुराग है और मैं इतने दिनों से लंका में बन्दिनी हूं) वे भी मुझे भूल चुके हैं। इसलिए रावण के अत्याचार से मुझे उतने दुःख की अनुभूति नहीं होती, जितनी प्रभु की इस उपेक्षा से होती है। यही श्री सीताजी के मन की व्याकुलता का कारण है। इसके उत्तर में वे एक ऐसा सुन्दर वाक्य कह देते हैं जिससे श्री सीताजी को ऐसा लगने लगा कि सचमुच हनुमान ने उनके सारे दुःख को क्षण-भर में मिटा दिया। प्रभु ने ऐसा कहा था या नहीं इसका उल्लेख रामायण में नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि प्रभु ने हनुमानजी से ऐसा कहने के लिए नहीं कहा था। हनुमानजी ने जो-कुछ कहा वह अपने मन से कहा था और यही उनके सम्वाद-कौशल की विशेषता है। सचमुच जितना बड़ा सत्य हनुमानजी का वाक्य है उसकी तुलना में और कोई बाह्य सत्य टिक ही नहीं सकता। हनुमानजी ने कहा कि मां, आप उलाहना दे रही हैं कि प्रभु ने आपको भुला दिया और मैं आपको उलाहना देना चाहता हूं कि आपने उनके स्वभाव को भुला दिया, तभी तो आप ऐसा कह रही हैं। वस्तुतः श्री सीताजी का तात्पर्य था कि असमर्थ व्यक्ति तो कभी-कभी याद करने के बाद भी अपनी असमर्थता के कारण सहायता नहीं कर पाता। हम प्रीति में किसी की याद तो करते हैं पर सामर्थ्य न होने के कारण उसकी सहायता नहीं कर पाते। किशोरीजी ने कहा कि प्रभु भी असमर्थ होते तो मैं समझ लेती कि वे मुझे याद तो करते होंगे पर असमर्थ होने के कारण छुड़ा नहीं पा रहे हैं। हनुमान क्या तुम यह कहना चाहते हो कि प्रभु असमर्थ हैं, इसलिए मुझे छुड़ाकर नहीं ले जा पा रहे हैं ? यदि समर्थ हैं तो क्या इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने मुझे भुला दिया है ? हनुमानजी ने कहा कि मां, क्षमा कीजिए, प्रभु तो केवल आपकी ही याद करते हैं। श्री सीताजी से हनुमानजी ने जो कहा उसका वर्णन गोस्वामीजी ने अत्यन्त मधुर शब्दों में गीतावली रामायण में किया है। उन्होंने कहा :

तुव बियोग सम्भव-दारुन दुख
बिसरि गई महिमा सुबान की ।। ५/११

आपकी याद में इतने डूब गये हैं कि उन्हें अपने बाण की महिमा भी बिसर गई है। आपको उनकी सामर्थ्य की याद है पर स्वयं उन्हें अपनी सामर्थ्य का भान ही नहीं रह गया है। अगर उन्हें आपकी याद के साथ-साथ यह बात भी याद आ जाती तो मां, आज आप लंका में न होतीं। श्री सीताजी हनुमानजी के सन्देश देने की इस कला पर मुग्ध हो गईं। अतः श्री हनुमानजी जब लौटने लगे तो मां ने कहा कि हनुमान, शायद पहले तो मैं यह सन्देश देती कि प्रभु को मेरी याद दिलाना, पर अब मैं तुमसे यही कहूंगी कि मेरी याद मत दिलाना; क्योंकि तुमने मेरी याद का जो परिणाम बताया है वह तो मेरे लिए बड़ी कठिनाई उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हो रहा है। इसलिए अब तुम :

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु।
बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु ।। ५/२६/५

उन्हें बाण की महिमा की ही याद दिलाना, मेरी याद दिलाने की आवश्यकता नहीं। तुम तो बता ही रहे हो कि वे मेरी याद में डूबे हुए हैं। इससे बढ़कर किसी के हृदय में सामीप्य का क्या बोध होगा? हनुमानजी के यह कहने पर कि मां, प्रभु तो चौबीसों घंटे केवल आपकी ही स्मृति में डूबे रहते हैं, अपने ऐश्वर्य और ईश्वरत्व को भूल चुके हैं, उस समय श्री जानकीजी को कितना सुख मिला होगा, इसकी कल्पना कीजिए। हनुमानजी में सचमुच प्रभु के हृदय को समझने और प्रेमियों के हृदय को निकट लाने की जो वृत्ति है उसको प्रकट करनेवाला यह सम्वाद है। इसी प्रकार श्री सीताजी का सन्देश लेकर हनुमानजी प्रभु के पास आये। प्रभु ने हनुमानजी से पूछा कि सीता कुशल से तो हैं? मानो इस प्रश्न में कुछ संशय-सा झलक रहा था, क्योंकि प्रभु से श्री सीताजी ने कहा था कि यदि आप मुझे वन नहीं ले चलेंगे तो निश्चित समझिए कि मेरा प्राण तो आपके साथ जायेगा ही और यदि ले चलते हैं तो :

की तनु प्रान कि केवल प्राना। २/५७/४

मेरे शरीर और प्राण दोनों जायेंगे। श्री सीताजी दस महीने से लंका में हैं। जब हनुमानजी से प्रश्न किया गया कि क्या वे जीवित हैं तो सम्वाददाता की कुशलता देखिए। श्री सीताजी को भी ज्ञात

था कि यह प्रश्न किया जा सकता है, इसलिए उन्होंने इसका उत्तर भी दिया था। श्री हनुमानजी का कौशल यह है कि उन्होंने पहले अपना उत्तर दिया और फिर श्री सीताजी का भेजा उत्तर सुनाया। प्रभु के शब्द थे :

कहहु तात केहि भांति जानकी।
रहति करति रच्छा स्वप्रान की।। ५/२९/८

हनुमान, यह तो बताओ कि जानकी अपने प्राणों की रक्षा कैसे करती रहती है? हनुमानजी ऐसे अनोखे सम्वाददाता हैं कि उन्होंने प्रभु के शब्दों को ही पकड़ लिया। जब वे श्री सीताजी से वार्त्तालाप कर रहे थे तो उन्होंने प्रभु का पक्ष लिया था और अब प्रभु से वार्त्तालाप करने लगे तो श्री सीताजी का पक्ष लेने लगे और फिर प्रभु से ही उलझ गये। उन्होंने कहा कि महाराज, एक तो मुझे आपका यह शब्द प्रिय नहीं लगा। अगर आपने इतना ही कहा होता कि **सीताजी प्राणों की रक्षा कैसे कर रही हैं** तो भी ठीक था, पर आपके श्रीमुख से यह कैसे निकल गया कि **सीता अपने प्राणों की रक्षा कैसे कर रही हैं,** अत: प्रभु, मुझे यह बताइये कि उनके प्राण स्वयं उनके हैं या आपके? यदि प्राणनाथ आप हैं तो प्राण आपके हैं या उनके? यदि प्राण आपके हैं तो महाराज मैं आपसे प्रतिप्रश्न करना चाहता हूं कि **आपके प्राणों की रक्षा कैसे हो रही है।** प्रश्न के उत्तर में प्रतिप्रश्न करने का अर्थ होता है सामनेवाले को चुप कराने की चेष्टा, किन्तु ऐसा अपने से बड़े लोगों के समक्ष नहीं किया जाता। परन्तु हनुमानजी ने यही किया। क्योंकि :

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।। ५/३०

उन्होंने दोनों के प्रति कितने सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया! श्री सीताजी को बताया कि प्रभु दिन-रात आपकी याद में डूबे रहते हैं, और अब प्रभु को बता रहे हैं कि श्री सीताजी दिन-रात आपका नाम जपती हुई आपके ध्यान में डूबी हुई हैं। दोनों एक-दूसरे में समाये हुए हैं, चिन्तन में लगे हुए हैं, और कहा कि—**नाम पाहरू।** प्रभु, यह तो बताइये कि यदि चोर चोरी करने के लिए जाये और देखे कि किवाड़ बड़े मजबूत और सुदृढ़ हैं, ताला लगा हुआ है और पहरेदार इतना शक्ति-

शाली है कि उससे झगड़ा नहीं किया जा सकता तो वह चोरी करेगा या लौट आयेगा ? निश्चय ही चोर तो लौट आयेगा। हनुमानजी ने कहा कि महाराज, श्री सीताजी के यहां तो ये तीनों ही हैं और उनके कारण बेचारा काल श्री सीताजी के प्राण लेने के लिए आता तो है पर वह मार्ग ही नहीं पाता। क्योंकि **नाम पाहरू दिवस निसि**, दिन-रात आपके नाम का पहरा पड़ रहा है; **ध्यान तुम्हार कपाट**, आपके ध्यान के किवाड़ बन्द हैं और **लोचन निज पद जंत्रित**, ताला भी बन्द है। ऐसी स्थिति में **जाहिं प्रान केहिं बाट**। इस प्रकार उन्होंने प्रभु को मानो चेतावनी भी दे दी कि श्री सीताजी अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर रही हैं, अपितु आपके नाम की महिमा की रक्षा कर रही हैं। क्योंकि अगर पहरेदार के होते हुए घर में चोरी हो जाये तो चोर को तो बाद में पकड़ा जाता है, किन्तु पहरेदार को पहले निकाला जाता है। मां आपके नाम का जप कर रही हैं और नाम-जप करते हुए भी यदि प्राण चले गये तो लोग सोचेंगे कि जब आपका नाम श्री सीताजी की ही रक्षा नहीं कर पाया तो हमारी रक्षा क्या करेगा ? अतः लोग आपका नाम लेना ही बन्द कर देंगे। वस्तुतः श्री सीताजी तो प्राण बचाकर आपके नाम की महिमा को ही बचा रही हैं, ताकि लोगों के मन में यह विश्वास बना रहे कि लंका-जैसी नगरी में भी नाम का आश्रय लेकर व्यक्ति सुरक्षित रह सकता है। इसलिए अब आप ही बताइये कि क्या ऐसा कोई उपाय है कि श्री सीताजी के प्राण जा सकें ? श्री हनुमानजी ने मानो चुनौती दी कि यमराज की तो बात ही क्या, अगर आप भी चाहें तो वहां से प्राण नहीं निकाल सकते। क्योंकि पहरेदार है नाम, और रामचरितमानस की मान्यता है :

कहौं कहां लगि नाम बड़ाई।
रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥ १/२५/८

राम से भी नाम बड़ा है, अतः नाम के प्रहरी के रहते हुए प्राण कैसे जायेंगे ? तत्पश्चात् सीताजी ने जो सन्देश दिया था वह भी सुना दिया। उन्होंने कहा कि मां ने आपसे यह कहने के लिए कहा था :

अवगुन एक मोर मैं माना।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा।
निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा।
स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी।
जरैं न पाव देह बिरहागी॥ ५/३०/५

शरीर तो रुई के और विरह अग्नि के समान है। इस विरहाग्नि में शरीर-रूपी रुई के जलने में कोई विलम्ब नहीं। इस पर यदि हवा भी चलने लगे तो फिर कहना ही क्या! उन्होंने कहा कि लम्बी सांस-रूपी हवा भी चल रही है। श्री सीताजी तो शरीर को जलाने के लिए व्यग्र हैं, पर उनका कहना है कि मैं क्या करूं। वे तो शरीर को जलाना चाहती हैं किन्तु :

नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। ५/३०/८

नेत्र आंसू बहाकर उस आग को बुझा देते हैं। नेत्र कहते हैं कि जल जाने पर अन्य इन्द्रियों की भले ही हानि न हो, परन्तु हम तो प्रभु के दर्शनों से वंचित रह जायेंगे, इसलिए इस विरहाग्नि में हम शरीर को जलने नहीं देंगे। अर्थात् श्री सीताजी आपके दर्शन के लिए जीवित हैं और आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रही हैं, अन्यथा उनके अन्त:करण में जीवित रहने की कोई आकांक्षा नहीं है। हनुमानजी के इस प्रीति-भरे सन्देश, इस दिव्य काव्य को सुनकर प्रभु गद्‌गद हो गये, और उन्होंने कहा कि हनुमान और सुनाओ। बस, हनुमानजी ने उचित अवसर देखा और फिर सम्वाद को कैसा संक्षिप्त किया! पहले विस्तार किया और ज्यों ही प्रभु ने कहा कि और सुनाओ तो तुरन्त कहा कि बस प्रभु, आगे मत सुनिए। प्रभु ने कहा कि क्यों भई, अभी तो तुम सुना रहे थे। इसके उत्तर में हनुमानजी ने बहुत ही सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने कहा :

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीनदयाला। ५/३०/९

श्री सीताजी की विपत्ति बहुत बड़ी है और हे दीनदयाल, न कहना ही अच्छा है। इतने लोगों के सामने यदि मैं श्री सीताजी की विपत्ति सुना दूंगा तो लोगों के मन से आपकी दीनदयालुता के प्रति विश्वास ही उठ जायेगा। इसका प्रचार मत होने दीजिए। इसलिए मैं उतना ही सुनाना चाहता हूं जिससे उद्देश्य की पूर्त्ति हो जाये। और सचमुच हनुमानजी ने जो चाहा था वही हुआ। गोस्वामीजी ने कहा कि जब श्री हनुमानजी सीताजी के पास से चले तो उनकी दोनों आंखों में आंसू भरे हुए थे। उनके सम्वाद-कौशल की विशेषता यहां दिखाई देती है :

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना॥ ५/३१/१

प्रभु की आंखों में आंसू आ गये, वे रोने लगे। उन्होंने अश्रुपूर्ण नयनों से सुग्रीव की ओर देखकर कहा :

अब बिलंबु केहि कारन कीजे।
तुरत कपिन्ह कहुं आयसु दीजे॥ ५/३३/७

अब विलम्ब की आवश्यकता नहीं, श्री सीताजी की रक्षा के लिए तुरत सेना को अभियान करने की आज्ञा दीजिए। परिणाम यह होता है कि भगवान् राम श्री सीताजी को छुड़ाने के लिए लंका की ओर चल पड़ते हैं, और चलने के पहले ही हनुमानजी ने दोनों के अन्तःकरण में जो संशय था, उससे उत्पन्न होनेवाली जो दूरी थी, उसे मिटा दिया। मैंने तो उस समय सम्वाददाता महोदय के सम्मान में यही कहा था कि भई, अब इसका निर्णय तो आप लोगों को करना है कि आप सम्वाद किस रूप में देते हैं। आप जोड़नेवाला सम्वाद देते हैं या तोड़ने वाला। हृदय को सन्निकट लानेवाला सम्वाद सत्य है या हृदय को दूर बनानेवाला ! सत्य का केवल यही अर्थ नहीं है कि आपको सन्तोष हो गया है कि यह सत्य है, अपितु सामनेवाले पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसका बड़ा महत्त्व है। इसलिए स्पष्ट रूप से कहा गया कि **सत्यं प्रिय हितं च यत्**, अर्थात् सत्य और प्रिय के साथ-साथ जो हित है वह सत्य है। इसका तात्पर्य है कि जिसमें आपको सत्य की अनुभूति हो और सामनेवाले को भी उसमें हित की अनुभूति हो वही धर्म है। आपको जिसमें सत्य की अनुभूति हो गई कि

'मैं सच बोल रहा हूं' किन्तु उससे सामनेवाले की क्रोधाग्नि भड़क उठे, विद्वेष की सृष्टि और झगड़ा हो जाये तो आपने सत्यवादिता का अहंकार ओढ़ रखा है पर सच्चे अर्थ में आप सत्य के उपासक नहीं हैं। इस अर्थ में धर्म को सेतु कहने का तात्पर्य यह है कि सच्चा धर्म जोड़ेगा किन्तु तोड़ेगा नहीं। परन्तु सचमुच बड़ा कठिन होता है यह कार्य। भगवान् राम ने अपने व्यक्तित्व के द्वारा आदि से अन्त तक धर्म का यही स्वरूप उपस्थित किया। इस दृष्टि से चाहे आप कह लीजिए कि भगवान् राम स्वयं सेतु हैं या कह लीजिए कि भगवान् राम धर्मसेतु के रक्षक हैं। यदि आद्योपान्त विचार किया जाये तो लगेगा कि भगवान् राम के पूरे चरित्र में जोड़ने की यह दिव्य शैली विद्यमान है। इस सन्दर्भ में एक विशेष बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् राम को यह उपाधि जनकपुर में दी गई थी, अयोध्या में नहीं। गुरु वशिष्ठ तो अयोध्या के हैं, अतः अधिक संगत यही होता कि वे अयोध्या में यह उपाधि भगवान् राम को देते पर उन्होंने भी उक्त उपाधि चित्रकूट में दी, अयोध्या में नहीं। दोनों भगवान् राम को सेतु तो कहते हैं पर अपने नगर में नहीं, दूसरे नगर में। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् राम अयोध्या में बैठे हुए हैं और उन्हें सेतु बता दिया जाये तो वह नकली उपाधि होगी। सेतुत्व तो तब सिद्ध होगा जब वे सचमुच दूरी को जोड़ने का कार्य पूरा कर दें। अतः भगवान् राम की जनकपुर-यात्रा और वन-यात्रा, दोनों ही जोड़नेवाली यात्राएं हैं। यद्यपि विचार करके देखें तो इन दोनों यात्राओं में एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है। भगवान् राम की जनकपुर-यात्रा पानेवाली यात्रा है और चित्रकूट-यात्रा खोनेवाली यात्रा है। होता यह है कि व्यक्ति जब कुछ पाता है तो प्रसन्न होकर कुछ बांटने की चेष्टा करता है, पर जब खोता है तब तो उसके मन में बदला लेने की वृत्ति आ जाती है। एक ओर तो भगवान् राम की जनकपुर की यात्रा में चारों ओर फूलों की पंखुड़ियां बरसाई जा रही हैं :

हियं हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद। १/२२३

अतः इस रूप में यह यात्रा फूलों से भरा हुआ मार्ग है, और दूसरी ओर है चित्रकूट की यात्रा जिसमें कांटे-ही-कांटे भरे हुए हैं।

लेकिन दोनों यात्राओं को मिलाकर यही दिखाई देगा कि चाहे फूलों से भरा हुआ मार्ग हो या कांटों से, भगवान् श्री राम अपने चरित्र के द्वारा सेतु का निर्माण करके सारे समाज को मिलाते हैं। जब दोनों गुरुओं ने इसी सत्य का अनुभव किया तो उन्होंने उन्हें धर्मसेतु की उपाधि प्रदान की। भगवान् राम के जनकपुर पहुंचने पर विश्वामित्र को लगा कि राम तुम तो सचमुच सेतु के रक्षक हो। इसका अभिप्राय यह है कि राम का सेतुत्व तब सिद्ध हुआ जब उन्होंने जनकपुर और अयोध्या को मिला दिया, जब उन्होंने खोने को खोना माना ही नहीं। भगवान् राम को जिस दिन वन जाने का आदेश मिला तो वे कौशल्याजी के पास आज्ञा लेने के लिए गये। किन्तु मां को पता नहीं था कि श्री राम वन जानेवाले हैं, इसलिए उन्होंने वात्सल्य से कहा कि राघवेन्द्र, फल खा लो और उसके पश्चात् तुम पिताजी के पास जाना, नहीं तो बड़ा विलम्ब हो जायेगा। भगवान् श्री राम ने कहा कि मां, मैं तो दूसरा ही समाचार लेकर आया हूं। वास्तव में सत्य तो यही है (जिसको कटु सत्य कह सकते हैं) कि भगवान् राम को कहना चाहिए था कि पिताजी ने विचार बदल दिया है और मुझसे राज्य छीन लिया गया है तथा अब भरत राजा होंगे। परन्तु भगवान् राम ने कहा कि मां, तुम्हें प्रसन्नता होगी कि अब पिताजी ने विचार बदल दिया है। वे पहले तो मुझे युवराज-पद देनेवाले थे पर अब उन्होंने मुझे सीधे राजा बना दिया है। भगवान् राम ने ऐसा नहीं माना कि मैंने खोया बल्कि वे कहते हैं कि मैंने पाया। कहां का राज्य पाया ? वे कहते हैं :

पितां दीन्ह मोहि कानन राजू। २/५२/६

पिताजी ने भरत को अयोध्या का युवराज बनाने का निश्चय किया है, और मुझे जंगल का राजा बनाया है। दो भाइयों में बंटवारा है इसलिए दोनों को राजा बनाना पिताजी को अभीष्ट था। छोटे को छोटा और बड़े को बड़ा राज्य दिया। अतः मैं व्यग्र हो रहा हूं कि भरत को तो राज्य बाद में मिलेगा, पहले मुझे मिल जाना चाहिए और मैं राजा होने जा रहा हूं। यह सुनकर कौशल्याजी ने भगवान् राम की ओर देखा, मानों उनकी दृष्टि में प्रश्न था कि वन का भी कोई राजा होता है क्या ? प्रभु ने कहा कि मां, वहीं तो मेरी आवश्यकता है, अयोध्या में तो मैं केवल शोभा के लिए राजा बनता किन्तु वहां :

जहं सब भांति मोर बड़ काजू ॥ २/५२/६

यदि हम दोनों यात्राओं को मिलाकर देखें तो श्री राम के व्यक्तित्व में सेतु का यह मिलानेवाला तत्त्व विद्यमान है। जनकपुर और अयोध्या के बीच मिलन का तात्पर्य क्या है ? पिछले प्रवचन में संकेत किया गया था कि वशिष्ठ और विश्वामित्र एक-दूसरे से सर्वथा दूर थे और वह दूरी धर्म, वर्ण और जाति को लेकर ही तो थी । हमारे यहां अलग-अलग वर्णों और प्रत्येक वर्ण के धर्म का वर्णन किया गया है । अत: ये अलग-अलग वर्ण परस्पर एक-दूसरे को जोड़ने के लिए हैं या तोड़ने के लिए, एक-दूसरे के पूरक हैं या विरोधी ? आप देखेंगे कि भगवान् राम के काल में एक महापुरुष और भी हैं, और इसी जनकपुर में उन महापुरुष से भी भगवान् राम का मिलन होता है । वे केवल महापुरुष ही नहीं हैं । पुराणों के अनुसार वे भी अवतार हैं, और उनका नाम है परशुराम । यह अवश्य है कि उनके साथ यह जोड़ दिया गया कि वे आवेशावतार हैं, सदा अवतार नहीं रहते । कुछ समय के लिए उनमें अवतार की शक्ति का उदय हुआ और बाद में वे एक साधारण मुनि हो गये। तात्पर्य यह है कि परशुराम के रूप में भगवान् राम के पहले एक अवतार और था और जहां तक शक्ति-मत्ता का सम्बन्ध है उनमें सामर्थ्य की कमी नहीं है । क्योंकि रावण को हरानेवाला है सहस्रार्जुन, और सहस्रार्जुन को हरानेवाले परशुराम हैं । इसलिए जो हजार भुजावाले सहस्रार्जुन की भुजाओं को काटकर दण्ड दे सकता है, ऐसे शक्तिशाली परशुराम के रहते हुए नये अवतार की तो कोई आवश्यकता नहीं थी । जैसे उन्होंने सहस्रार्जुन को दण्ड देकर उसके अत्याचार से समाज को मुक्ति दिलाई थी उसी प्रकार वे रावण के अत्याचार से भी मुक्ति दिला देते । संयोग ऐसा कि दोनों का नाम भी राम ही है—ये राम हैं और वे परशुराम । किन्तु एक राम के रहते हुए दूसरे राम को क्यों आना पड़ा ? इसका एकमात्र कारण यही है कि परशुरामजी ने जीवन में धर्म का व्रत स्वीकार किया पर अन्त में उन्होंने वर्णधर्म को परस्पर टकराहट के रूप में स्वीकार कर लिया । वे एक किनारा बन गये, एक पक्षधर बन गये और जोड़नेवाले नहीं रह गये । उनकी यह कमी है कि उन्होंने क्षत्रिय होने के कारण सहस्रार्जुन को दण्ड दिया, यदि उस समय उनकी वृत्ति

अन्यायी को दण्ड देने की होती तो दण्ड देने की सार्थकता थी, किन्तु अन्यायी के साथ-साथ उन्होंने इस बात का भी विचार किया कि अन्याय करनेवाला किस जाति का है। क्योंकि वह क्षत्रिय जाति का है, इसलिए उन्होंने निर्णय किया कि सारी जाति को दण्ड देने की आवश्यकता है और उन्होंने बड़ी कठोरता से क्षत्रियों का दमन किया। इतना ही नहीं, अपितु वे स्वयं अपने को ब्राह्मण और क्षत्रिय-विरोधी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म एक-दूसरे से टकरानेवाले बन गये। यह जातिवाद का रोग नया नहीं, बड़ा पुराना है। यह नये-नये रूपों में आता-जाता रहता है। इसलिए परशुराम को लक्ष्मणजी से भी यह कहने में बड़े गर्व का अनुभव होता है कि पहले मेरा परिचय जान लो—**बाल ब्रह्मचारी,** मैं बाल ब्रह्मचारी हूं। यह सुनकर लक्ष्मणजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि तब तो आप प्रणम्य हैं। परशुरामजी ने कहा कि इसके अतिरिक्त मेरा परिचय और भी है :

बाल ब्रह्मचारी अति कोही।
बिस्व बिदित छत्रिय कुल द्रोही।। १/२७१/६

मैं संसार में क्षत्रिय-कुल का विरोधी प्रसिद्ध हूं। मैं ब्राह्मण जाति का नेता हूं और क्षत्रियों को दण्ड देता हूं। इस स्थिति में भगवान् राम अगर सचमुच दूसरे किनारे पर खड़े होना चाहते तो वह किनारा बना-बनाया ही था। वे कह सकते थे कि मैं क्षत्रिय हूं। आइए, हो जाये हमारे-आपके बीच निर्णय, तो क्या होता ! पर भगवान् राम तो सेतु हैं, वे एक किनारा नहीं हैं। परशुरामजी ने भूल की है, उन्होंने क्षत्रिय जाति के विरुद्ध विद्रोह करने के बाद भी रावण को दण्ड देने में संकोच का अनुभव किया। इसलिए लक्ष्मणजी कह देते हैं कि महाराज :

इहां कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं।
जे तरजनी देखि मरि जाहीं।। १/२७२/३

वे क्षात्र-तेज में बोलते हैं। भगवान् राम स्वयं क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुए हैं। कहते भी हैं कि क्षत्रिय के लिए युद्ध तो परम प्रसन्नता की बात है। लेकिन भगवान् राम ने एक नया दर्शन दिया। क्षत्रिय का धर्म युद्ध है, अर्थात् क्षत्रिय युद्ध को ढूंढ़े या युद्ध को बाध्यता से

स्वीकार करे। बस, इतना ही तो सूक्ष्म अन्तर है। अगर क्षत्रिय का यह अर्थ मान लिया जाये कि युद्ध करना उसका धर्म है और जिस दिन कोई लड़ने को न मिले तो लगे कि आज तो क्षात्रधर्म का पालन ही नहीं हुआ, इसलिए रास्ता चलते हुए ही किसी से लड़कर क्षत्रिय बन जायें तो इससे बढ़कर दुर्भाग्यपूर्ण धर्म तो कोई नहीं होगा। श्री राम का तात्पर्य है कि लड़ना बाध्यता है, कोई धर्म का अनिवार्य अंग नहीं, और उनके चरित्र में सर्वत्र यही तत्त्व विद्यमान है। जब परशुरामजी ने चुनौती दी और बोले कि फिर आज निर्णय हो जाये! परशुरामजी ने कहा कि उपाय तो दो ही हैं :

करु परितोषु मोर संग्रामा।

उठाओ शस्त्र और मुझसे लड़ो। यदि अपने को बचाना चाहते हो तो :

नाहिं त छाड़ कहाउब रामा।। १/२८०/२

यह जो तुमने अपना नाम 'राम' रख लिया है, बस इस राम नाम को छोड़ दो। राम नाम मेरा है, तुम यह नाम रखनेवाले कौन हो? तुम्हारा राम नाम किसने रख दिया? भगवान् राम कह सकते थे कि यह तो मेरा ही नाम है। मेरा अनादि नाम है, अनन्त नाम है, किन्तु उन्होंने सचमुच उसी सेतुवृत्ति का परिचय दिया। भगवान् राम ने ब्राह्म और क्षात्रतेज को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक माना। भगवान् राम ने कहा कि महाराज, आप बिलकुल ठीक कहते हैं। आप युद्ध की चुनौती देते हैं और साधारणतः यही माना जाता है :

छत्रिय तनु धरि समर सकाना।
कुल कलंकु तेहिं पावँर आना।।
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी।
कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।। १/८३/४

यह तो क्षात्रधर्म की प्रशंसा थी पर सेतुत्व क्या है, मिलानेवाली कड़ी क्या है? भगवान् राम ने कहा कि इतना होते हुए भी महाराज :

बिप्र बंस कै असि प्रभुताई।
अभय होइ जो तुम्हहि डेराई।। १/२८३/५

मैं संसार को अभय-दान देना चाहता हूं, पर मैं आपसे डरता हूं। आप जो यह कहते हैं कि 'नाम छोड़ दो', किन्तु यदि मेरा नाम न भी छूटे तो भी बड़प्पन आपका ही निश्चित है, क्योंकि :

राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥ १/२८१/६

मेरा छोटा-सा राम नाम और आपका पांच अक्षर का परशुराम नाम है। इसलिए, महाराज, हमारी-आपकी कोई तुलना नहीं है :

देव एकु गुनु धनुष हमारें।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारें॥ १/२८१/७

हमारा एक गुण केवल धनुष है, आपमें नौ-नौ गुण विद्यमान हैं। अतः भगवान् श्री राम तुरत कह देते हैं कि महाराज, युद्ध करने पर यही तो होगा कि एक जीतेगा और दूसरा हारेगा। भगवान् राम ने कितनी अच्छी बात कही ! क्षत्रिय की विजय में शोभा होती है, लेकिन श्री राम उसे एक नया मोड़ दे देते हैं। क्षत्रिय अर्थात् शस्त्र और ब्राह्मण का अर्थ है विवेक। भगवान् राम का तात्पर्य है कि विवेक और शस्त्र की टकराहट में विवेक को जीतना चाहिए न कि शस्त्र को। विवेक और शस्त्र की टकराहट में यदि शस्त्र जीत गया तो समाज में विवेक का स्थान ही गौण हो जायेगा। भगवान् राम ने कहा कि महाराज, लड़ाई में तो यह निश्चित नहीं है कि कौन जीतेगा, लेकिन आप यही तो चाहते हैं कि विजय आपकी हो। अतः मैं स्वीकार करता हूं :

सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे॥ १/२८१/८

हम तो हर प्रकार से आपसे हारे हुए हैं। कहा जाता है कि परशुरामजी ने एक बार भीष्म के विरुद्ध भी युद्ध किया था। भीष्म ने शस्त्र का ज्ञान परशुरामजी से प्राप्त किया था लेकिन बाद में विद्रोह कर दिया और कहा कि मैं क्षत्रिय हूं, मैं आपको चुनौती देने के लिए प्रस्तुत हूं। परशुरामजी ने कहा कि मैंने कई बार क्षत्रियों को विनष्ट किया है। इस पर भीष्म ने गर्व से कहा कि भीष्म-जैसा कोई क्षत्रिय नहीं रहा होगा, तभी आपने उन्हें विनष्ट किया

होगा। अन्ततः दोनों जूझ गये और जब लड़ते-लड़ते अट्ठाईस दिन हो गये तो सबने दोनों से प्रार्थना की कि आप लोग अपना-अपना अस्त्र वापस ले लीजिए। भीष्म ने कहा कि पहले परशुरामजी को अस्त्र वापस लेना होगा, मैं पहले वापस नहीं लूंगा, क्योंकि मैं क्षत्रिय हूं और ये ब्राह्मण हैं। अगर ये अस्त्र वापस ले लेते हैं तो इनकी कोई हेठी नहीं होगी, पर मैं कैसे लूं? परशुरामजी को लोक-कल्याण के लिए अस्त्र वापस लेना पड़ा, परन्तु उसी समय परशुरामजी ने व्रत लिया कि आज से मैं क्षत्रिय जाति के किसी विद्यार्थी को अस्त्र-विद्या नहीं सिखाऊंगा। भगवान् राम द्वारा परशुराम के अन्तःकरण में क्षत्रिय जाति के प्रति जिस विद्वेष का उपशमन कर दिया गया था, भीष्म के व्यवहार ने उसे पुनः जाग्रत कर दिया। इसका वर्णन कर्ण के प्रसंग में मिलता है। कर्ण परशुराम से अस्त्र-विद्या सीखना चाहता था, पर उसे यह ज्ञात था कि क्षत्रिय के रूप में परिचय देने पर वे उसे कदापि धनुर्विद्या का दान नहीं देंगे। इसलिए उसने असत्य का आश्रय लिया और अपना परिचय ब्राह्मण-कुमार के रूप में दिया। परशुराम प्रसन्नतापूर्वक अपने इस सुयोग्य शिष्य को धनुर्विद्या का ज्ञान देने लगे। पर इसका अन्तिम पटाक्षेप इस रूप में हुआ कि एक दिन परशुराम कर्ण की गोद में सिर रखकर विश्राम कर रहे थे। अचानक एक कीड़े ने कर्ण की जांघ में छेद करना प्रारम्भ कर दिया। मुनि के विश्राम में व्यवधान न पड़े यह सोचकर कर्ण धैर्यपूर्वक उस पीड़ा को झेलता रहा। यहां तक कि उसकी जांघ से रक्त की धार बह निकली फिर भी वह मुनि के मस्तक को गोद में लिये अडिग बैठा रहा। रक्त के स्पर्श से महर्षि की निद्रा भंग हो गई। इस दृश्य को देखकर वे चकित रह गये और उन्हें यह विश्वास नहीं हुआ कि किसी ब्राह्मण-कुमार के लिए इस प्रकार पीड़ा झेल पाना सम्भव है। अतः उन्होंने कर्ण से कहा कि वह अपना वास्तविक परिचय दे। कर्ण ने निश्छल भाव से सारी बात बता दी, पर इसका सर्वथा विपरीत परिणाम निकला। होना तो यह चाहिए था कि वे कर्ण की गुरुनिष्ठा से प्रसन्न होकर उसके प्रारम्भिक असत्य भाषण के दोष को क्षमा कर देते, पर इसके विपरीत उन्होंने क्रुद्ध होकर कर्ण को अस्त्र-ज्ञान की विस्मृति का शाप दे दिया। वस्तुतः उनका क्षत्रिय

विद्वेष इतना उत्कट था कि वे क्षमा का परिचय नहीं दे सके। इस तरह भीष्म और परशुराम का वर्णधर्म एक-दूसरे के समक्ष प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आता है। भगवान् राम की वाणी में ब्राह्मण और क्षत्रिय एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक के रूप में सामने आते हैं। उनकी दृष्टि में क्षत्रिय जाति में भले ही संघर्ष हो पर ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। वे तो अत्यन्त विनम्र शब्दों में परशुरामजी से कहते हैं कि मुझ से आपकी टकराहट का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि मेरा मस्तक आपके चरणों के सन्निकट है और ऐसी स्थिति में तो मैं केवल आपके आशीर्वाद का ही अधिकारी हूं :

हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु न कहां चरन कहं माथा।। १/२८१/५

परशुराम और राम के दृष्टिकोण का यह पार्थक्य खण्डित धर्म और समग्र धर्म के अन्तर को प्रकट करनेवाला है। परशुराम के व्यक्तित्व में सेतुत्व का अभाव है। यद्यपि उनके चरित्र में काम और लोभ-जैसी वृत्तियों का सर्वथा अभाव है, फिर भी सौहार्द और शील के माध्यम से वे समाज के विविध वर्गों को जोड़ने में समर्थ नहीं हो पाते, यही उनकी अपूर्णता है।

भगवान् राम अपने चरित्र के माध्यम से धर्म का वह स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो समस्त वर्णों और आश्रमों को एक-दूसरे के निकट लाता है। अतः उन्हें 'धर्मसेतु-संरक्षक' की जो उपाधि दी गई वह सर्वथा सार्थक है।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

३

विश्वामित्र द्वारा भगवान् श्री राम को 'धर्मसेतु के संरक्षक' की जो उपाधि दी गई उस पर एकाग्र और शान्त चित्त से विचार करें। एक ओर हैं महर्षि विश्वामित्र और दूसरी ओर लक्ष्मण। महर्षि विश्वामित्र साक्षात् गुरु और लक्ष्मण प्रभु के छोटे भाई हैं। महर्षि विश्वामित्र के साथ सत्संग की चर्चा चल रही है और सन्त के लिए यह स्वाभाविक ही है। ऐसे समय में श्री लक्ष्मण के हृदय में नगर देखने की इच्छा उत्पन्न होती है। लौकिक अर्थों में यदि देखा जाये तो सत्संग में अन्तर्मुखता है और नगर देखने की इच्छा बहिर्मुखता की प्रतीक है। अतः प्रश्न यह है कि ज्ञानवृद्ध सन्त का साहचर्य छोड़कर एक बालक की आकांक्षा को पूर्ण किया जाये अथवा बालक के आग्रह की उपेक्षा करते हुए संत को अधिक महत्त्व दिया जाये। किन्तु भगवान् श्री राम इन दोनों में सामंजस्य की स्थापना करते हैं, क्योंकि सेतु के समान वे दोनों को जोड़नेवाले हैं। एक ओर लक्ष्मण के प्रति उनका इतना प्रगाढ़ अनुराग है कि वे उनके हृदय की आकांक्षा को बिना कुछ कहे हुए भी समझ लेते हैं; इतनी एकता है दोनों के अन्तर्मन में कि गोस्वामीजी ने लिखा :

राम अनुज मन की गति जानी। १/२१७/३

श्री राम ने अनुज के मन की गति को जान लिया, और उनके अन्तः-करण में भक्तवत्सलता उमड़ आई। महर्षि विश्वामित्र से भगवान् श्री राम का गुरु-शिष्य का नाता है अथवा वे पिता-पुत्र की भांति हैं और लक्ष्मण के प्रति श्री राम के मन में वात्सल्य है। भगवान् श्री राम दोनों की भावनाओं की रक्षा करने के लिए एक के प्रति सम्मान और दूसरे के प्रति प्रगाढ़ अपनत्व प्रकट करते हैं। वे महर्षि विश्वा-मित्र को प्रणाम करके उनकी ओर देखते हैं किन्तु कुछ कहने का

साहस नहीं कर पाते । भगवान् श्री राम की मुद्रा को देखकर महर्षि विश्वामित्र पूछ लेते हैं कि वत्स, क्या कहना चाहते हो । श्री राघवेन्द्र ने बड़ी विनम्रता से कहा कि गुरुदेव, लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं पर वे संकोच और भय के कारण आपसे प्रत्यक्ष रूप से कुछ कह नहीं पा रहे हैं । यदि आप आदेश दें तो मैं उन्हें नगर दिखा लाऊं। किन्तु ऐसा कहते हुए उन्हें भय लगा कि गुरुदेव को कहीं ऐसा प्रतीत न हो कि मैं उनका सान्निध्य अथवा उनकी सेवा को छोड़कर नगर घूमने के लिए उतावला हो रहा हूं । इसलिए वे कहते हैं कि **नगर देखाइ तुरत लै आवौं,** मैं विश्वास दिलाता हूं कि नगर-दर्शन में अधिक विलम्ब नहीं होने दूंगा और शीघ्र ही उन्हें वापस ले आऊंगा। महर्षि विश्वामित्र ने ज्यों ही भगवान् श्री राम के मुख से यह वाक्य सुना तो वे भावविभोर हो उठे और सोचने लगे कि क्या मुझे ईश्वर को आदेश देने का अधिकार है। ईश्वर के लिए कहा जाता है कि **परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई,** इसके बावजूद तुम मुझसे आदेश मांगते हो और ऐसा करके तुमने मर्यादा की रक्षा की है। लेकिन तुम्हारे स्वभाव की विलक्षणता क्या है ? यहां भी तुम्हारे सामने एक ओर नीति है और दूसरी ओर प्रीति । गुरुजनों के प्रति मर्यादा का पालन नीति है, और छोटों के प्रति स्नेह का निर्वाह प्रीति है । अतः महर्षि दोनों को ध्यान में रखकर भगवान् श्री राम से कहते हैं :

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती ।
कस न राम तुम्ह राखहु नीती ।।
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता ।
प्रेम बिबस सेवक सुखदाता ।। १/२१७/७

धर्म की मर्यादा का संरक्षण भी तुम्हारे चरित्र में है और प्रेम की विवशता भी तुम्हारे चरित्र में विद्यमान है । इसलिए इन दोनों का एक-साथ समन्वय होने के नाते ही महर्षि भगवान् श्री राम को सेतु की उपाधि देते हैं । ऐसा देखा जाता है कि जिनकी वृत्ति नीतिपरक है वे प्रीति की उपेक्षा करते हैं और जिनकी वृत्ति प्रीतिपरक है उनके द्वारा नीति को महत्त्व नहीं दिया जाता । परन्तु तुमने नीति और प्रीति दोनों को एक-साथ स्वीकार किया, इसका तात्पर्य यह है कि तुम सच्चे अर्थों में सेतु के समान हो और एक-दूसरे को जोड़नेवाले

हो। किन्तु महर्षि विश्वामित्र ने नगर-दर्शन और लक्ष्मण के लिए भगवान् राम द्वारा आज्ञा मांगने को बहिरंग अर्थों में ही नहीं लिया। विगत प्रवचन के अन्त में जो प्रसंग चल रहा था उसे स्पष्ट करना आवश्यक है। भगवान् राम का यह सेतुत्व बड़ा विचित्र है। वस्तुतः भगवान् श्री राम का अयोध्या से जनकपुर आगमन भी उसी प्रक्रिया का एक अंग है। श्री राघवेन्द्र जिस ढंग से अपने व्यक्तित्व और चरित्र के द्वारा एक-दूसरे को सन्निकट ला देते हैं यह उनकी इसी प्रक्रिया का परिचायक है और महर्षि विश्वामित्र इस प्रक्रिया को देखते हैं।

पिछले प्रवचन के अन्त में कहा गया था कि जैसे भगवान् राम का व्यक्तित्व सेतु है उसी प्रकार रामचरितमानस भी समाज में सेतु के ही समान है। गोस्वामीजी के समय में और उससे पहले भी समाज में टकराहट थी और आज के युग में भी है। यह प्रत्येक क्षेत्र में— विचार के क्षेत्र में, व्यवहार के क्षेत्र में और भावना के क्षेत्र में विद्यमान है। अगर देश की दृष्टि से विचार करें तो वैचारिक क्षेत्र में महाराज श्री दशरथ और महाराज जनक का मिलन, केवल दो राजाओं का मिलन नहीं है। यदि आप दोनों के चरित्र की पृष्ठभूमि पर विचार करें तो दोनों के सिद्धान्त एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। महाराज श्री दशरथ यदि द्वैतवादी हैं तो जनक अद्वैतवादी हैं। हमारे यहां जो विविध प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं उनमें से एक है अद्वैतवाद और दूसरा है द्वैतवाद। अद्वैत का अभिप्राय है अभेदवाद और द्वैत का तात्पर्य है भेदवाद। गोस्वामीजी के काल में भी द्वैत और अद्वैत को लेकर बहुत संघर्ष होता रहा है, और पहले भी इनमें बड़ा विवाद था। जो अभेदवादी हैं वे भेदवादियों की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि ये तो सत्य के ज्ञान से शून्य हैं, और जो भेदवादी हैं उनको ऐसा लगता है कि ये अभेदवादी तो वस्तुतः ईश्वर से एकत्व का प्रतिपादन करके अपने अभिमान का प्रदर्शन कर रहे हैं। अद्वैतवाद तो अहंकार का परिचायक है और उसमें सत्य का लेश भी नहीं है। इसलिए इन दोनों मतों में सर्वदा टकराहट रही है और यह टकराहट भी साधारण नहीं है, बल्कि उसे निराकार और साकार की टकराहट के रूप में भी कह सकते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में एक समस्या है, और ब्रह्म-तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही समस्या है कि वह निराकार है या साकार। एक पक्ष कहता है कि ईश्वर निराकार है तो दूसरा पक्ष

कहता है कि ईश्वर साकार है। भेद सत्य है अथवा अभेद सत्य है, निराकार सत्य है या साकार सत्य है। ऐसी स्थिति में एक का पक्ष लेकर दूसरे का खण्डन किया जा सकता है और खण्डन-मण्डन की यह प्रक्रिया भी दिखाई देती है। रामचरितमानस में भी महर्षि लोमश और काकभुशुण्डिजी में जो तर्क-वितर्क होता है उसमें भी अद्वैत और द्वैत का पक्ष सामने आता है। महर्षि लोमश अद्वैतवादी हैं और अद्वैत का समर्थन करते-करते जब उन्हें क्रोध आ जाता है तो काकभुशुण्डिजी मन-ही-मन तर्क करते हैं कि अगर अद्वैतवाद सत्य होता तो लोमशजी को क्रोध कैसे आता? क्रोध तो दूसरे पर ही आता है; एक ओर तो वे कह रहे हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और कोई भेद है ही नहीं और दूसरी ओर क्रोध भी कर रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि वे केवल वाणी से अद्वैत का प्रतिपादन कर रहे हैं पर सत्य तो द्वैत ही है।

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।। ७/१११ (ख)

अस्तु, उनकी मान्यता है कि वस्तुतः जीव ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। जीव माया से परिछिन्न है और ईश्वर माया से ऊपर है इसलिए एकत्व की बात कहना सर्वथा निरर्थक है। महर्षि लोमश का व्यवहार भी यही सिद्ध करता है। दूसरी ओर महर्षि लोमश कहते हैं कि वस्तुतः यह तो मैं तुम्हें समझाने के लिए भेद को स्वीकार कर रहा हूं किन्तु तुम इतने बड़े तत्त्वज्ञान को स्वीकार नहीं कर रहे। इसका तात्पर्य यह है कि तुम मूर्ख हो। इसलिए वे बिगड़कर कहते हैं:

मूढ़ परम सिख देउं न मानसि।
उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि।।
सत्य बचन बिस्वास न करही।
बायस इव सबही ते डरही ।। ७/१११/१३

तू तो काक-वृत्तिवाला है, इसलिए क्रुद्ध होकर वे कहते हैं:

सठ स्वपच्छ तव हृदयं बिसाला।
सपदि होहि पच्छी चंडाला ।। ७/१११/१५

यदि तेरे अन्तःकरण में इतना पक्षपात है तो तू मनुष्य-रूप में रहने योग्य नहीं है। द्वैत-अद्वैत और निराकार-साकार का यह विवाद लोमश और काकभुशुण्डि के तर्क-वितर्क के रूप में सामने आता है। भगवान् श्री राम के व्यक्तित्व में यदि समन्वय का तत्त्व न होता तो दोनों के सामंजस्य की चेष्टा न की जाती। परन्तु विवाद के बाद महर्षि लोमश और काकभुशुण्डिजी का मिलन करा देना मानस के सेतुत्व को ही प्रकट करता है। मान लीजिए यदि लोमशजी ने शाप दे दिया होता और भुशुण्डिजी भी बदले में उतना ही उग्र शाप दे देते तो क्या होता ? यदि सामर्थ्य की दृष्टि से देखें तो दोनों में ही शाप देने की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान है; और महर्षि लोमश को भुशुण्डिजी भी कोई ऐसा शाप दे सकते थे जिससे उन्हें भी किसी अन्य योनि में जाना पड़ता। यदि ऐसा होता तब तो द्वैत और अद्वैत की टकराहट अन्त में विद्वेष की ओर ले जानेवाली सिद्ध होती, पर सामंजस्य यह है कि जिसे शाप मिला उसके मन में कोई ग्लानि नहीं है :

नहिं कछु भय न दीनता आई। ७/१११/१६

वे कौवा होकर उड़ चले और जिसने शाप दिया था उसके मन में पश्चात्ताप का उदय हुआ। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि दोनों अपनी ही बात पर अड़े रहते तो दोनों को बुरा लगता। काकभुशुण्डिजी को लगता कि इन्होंने मुझे शाप दे दिया, ये तो बड़े ही उग्र स्वभाव के हैं, ये कैसे महात्मा हैं ! और लोमशजी को लगता कि मैंने इसे इतना उच्च कोटि का तत्त्वज्ञान देने की चेष्टा की, इतना सार्थक उपदेश दिया लेकिन इसके अन्तःकरण में कोई ज्ञान नहीं। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, और लोमशजी के हृदय में पश्चात्ताप का उदय हुआ कि यह मैंने क्या किया। यह तो कोई बहुत बड़ा सहिष्णु भक्त है, क्योंकि मेरी बात सुनकर भी इसके व्यवहार में कहीं क्रोध परिलक्षित नहीं हुआ। अतः लोमश को लगा कि मैंने यद्यपि अद्वैत का प्रतिपादन किया, और उसने भले ही उसका विरोध किया हो पर उसके जीवन में अद्वैत विद्यमान है। यदि अद्वैत न होता तो शाप सुनकर क्रोध क्यों न आता ! लोमशजी को ऐसा लगने लगा कि शायद उलटा हो गया। मैं वाणी से अद्वैतवादी हूं, और वह हृदय से। मैं

व्यवहार में द्वैतवादी सिद्ध हो गया और वह वाणी से द्वैतवादी था किन्तु हृदय से अद्वैतवादी सिद्ध हुआ। इस प्रकार दोनों में सामंजस्य होता है, काकभुशुण्डिजी लौटकर आते हैं और गुरु के रूप में लोमश को वरण करते हैं। तब लोमशजी उनके समक्ष निराकार का प्रतिपादन न करके साकार ईश्वर की भक्ति का उपदेश देते हैं। राम-मन्त्र देते हैं, श्री राम के बाल-रूप का ध्यान बतलाते हैं, और इस प्रकार निराकार-साकार एवं द्वैत-अद्वैत में सामंजस्य की स्थापना करते हैं। जनकपुर के प्रसंग में इसे सबसे अधिक मधुर रूप दिया गया। द्वैत-अद्वैत का जितना सुन्दर सामंजस्य जनकपुर में है उतना अन्यत्र नहीं। क्योंकि अयोध्या के महाराज पूर्ण द्वैतवादी हैं, और जनकपुर के सम्राट् जनक पूर्ण अद्वैतवादी हैं। जनक निराकारवादी हैं और दशरथ साकारवादी। पर भगवान् श्री राम ने दोनों के बीच बहुत उत्तम नाता जुड़वा दिया जिससे द्वैतवादी और अद्वैतवादी परस्पर-विरोधी न रहकर एक-दूसरे के समधी बन गये। इसे केवल बहिरंग अर्थों में न देखकर इसके अन्तरंग में पैठकर दोनों के चरित्र पर विचार कीजिए। पहले तो दोनों के नाम पर तनिक ध्यान दीजिए, एक हैं दशरथ और दूसरे हैं विदेह। शरीर में दस इन्द्रियां हैं और महाराज श्री दशरथ दशेन्द्रियों को, शरीर को स्वीकार करते हैं। पर यह अवश्य है कि वे दशमुख की तरह मात्र भोग के लिए शरीर को स्वीकार नहीं करते। वे स्वीकार करते हैं शरीर को एक उच्च आदर्श, उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए। दूसरे विदेह हैं और विदेह का तात्पर्य ही है कि जो देह से ऊपर उठा हुआ है और देह को महत्त्व नहीं देता। अतः स्वाभाविक है कि विदेह आत्मवादी हैं, निराकारवादी हैं और देह को स्वीकार करनेवाला साकारवादी है। किन्तु हम सब लोग क्या हैं? यदि बहिरंग दृष्टि से देखें तो देह-मात्र हैं और तात्त्विक दृष्टि से देखें तो :

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥ ७/११६/२

इस प्रकार जीव निराकार है और शरीर साकार। यदि ईश्वर केवल निराकार है तो इस जीवतत्त्व की सार्थकता तो है पर हम जिस शरीर को स्वीकार किये हुए हैं उसका कोई अर्थ नहीं, उसकी

कोई उपयोगिता नहीं। इसीलिए रामचरितमानस में सेतु बनाया गया, निर्गुण-सगुण और निराकार-साकार के बीच।

पहले हम तनिक दशरथजी के चरित्र पर विचार करें। महाराज श्री दशरथ पूर्वजन्म में मनु थे और मनु स्मृति के निर्माता हैं। व्यवहार की व्यवस्था शरीर को लेकर होती है। वे व्यवस्थित और संयमित जीवन व्यतीत करते हैं। अतः मनु का जीवन कर्ममय था पर अन्त में वे शरीर से अपने-आपको ऊपर उठा हुआ नहीं पाते। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि इतने दिनों तक कर्म करते हुए भी मैं अभी विरागी नहीं बना :

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयं बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥ १/१४२

अब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने को धन्य कैसे बनायें। हमारे अन्तःकरण में वैराग्य है ही नहीं। और ज्ञान का साधन क्या है? कहा गया है कि **ग्यान कि होइ बिराग बिनु,** अगर वैराग्य नहीं होगा तो कभी ज्ञान नहीं होगा, अतएव ज्ञान के लिए वैराग्य की आवश्यकता है। किन्तु मनु को ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे अन्तःकरण में वैराग्य नहीं हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि मनु के जीवन की कोई सार्थकता है या नहीं? जिसके जीवन में वैराग्य है उसका जीवन तो सार्थक है ही, वह तो महाज्ञानी बन ही सकता है, पर जो विरागी नहीं है उसके जीवन का कोई सदुपयोग हो सकता है या नहीं? रामचरितमानस में इसी का आग्रह किया गया है और यही रामचरितमानस की पूर्णता है कि विरागी ही नहीं रागी भी अपने जीवन को धन्य बना सकता है, विराग ही नहीं राग का भी सदुपयोग किया जा सकता है। अतः विराग का सदुपयोग यदि ज्ञान है तो राग का सदुपयोग भक्ति है। अगर हृदय में विराग नहीं है तो राग तो है। यदि राग है तो भक्ति के लिए राग की ही आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने लिए राग का पथ, भक्ति का पथ चुना और भक्ति का पथ चुनकर उन्होंने बड़ा सुन्दर कार्य किया। उन्होंने सोचा कि अगर मैं विरागी होता तो ज्ञान की दिशा में जाता और ज्ञान की दिशा से मुक्ति की ओर बढ़ता। लेकिन उन्होंने मुक्ति का मार्ग स्वीकार नहीं किया। ज्ञान का मार्ग निराकार का, मुक्ति का मार्ग है और महाराज मनु ने इस मार्ग को स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने

साधना करते हुए तप का आश्रय लिया। मनु ने कठोर तपस्या करके शरीर को सुखा डाला और सचमुच ऐसा लगा कि तपस्या के द्वारा उन्होंने शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। स्थिति यह हो गई कि शरीर में हड्डियों के ढांचे के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया :

अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। १/१४४/४

उनकी साधना और तपस्या की चरम परिणति के रूप में आकाशवाणी हुई। इससे निराकार से साकार की उत्पत्ति हुई, आकाश से शब्द उत्पन्न हुआ। भगवान् की दिव्य वाणी सुनाई पड़ी **मांगु मांगु बरु भै नभ बानी**, मांगो-मांगो, क्या चाहते हो, तुम्हारा क्या अभीष्ट है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि ज्यों ही आकाशवाणी हुई उसका पहला प्रभाव यह हुआ :

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई।
श्रवन रंध्र होइ उर जब आई॥
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। १/१४४/७

हजारों वर्षों में तो शरीर को सुखाया था किन्तु आकाशवाणी होते ही शरीर ज्यों-का-त्यों पुष्ट हो गया। ऐसा लग रहा था मानो अभी-अभी घर से चले आ रहे हों। इसका अभिप्राय है कि भगवान् ने कहा कि जब भक्तिमार्ग के ही अनुयायी हो तो फिर शरीर को क्यों सुखा रहे हो। जब तुम मुझे साकार बनाने के लिए ही व्यग्र हो तो शरीर को निरर्थक क्यों मानते हो, उसे सार्थक मानो। विचारक यह मान सकता है कि शरीर से ऊपर उठना चाहिए, लेकिन जब तुम मुझे साकार बनाकर नेत्रों से देखना चाहते हो, पुत्र बनाना चाहते हो तो क्या शरीर के बिना यह संभव होगा ? यदि शरीर के बिना सम्भव नहीं होगा तो इसे सुखाना व्यर्थ है। इसलिए उनका शरीर मोटा हो गया। कहा जाता है कि पहले तुलसीदासजी अत्यन्त क्षीणकाय थे। दरिद्रता में जीवन व्यतीत हुआ, अभावग्रस्त रहे, अतः बहुत दुबले थे। किसी व्यक्ति ने उन्हें तब देखा था जब ये अत्यन्त दुबले-पतले थे। किन्तु अनेक वर्ष बाद जब तुलसीदासजी की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी तो उक्त सज्जन उनके दर्शन करने के लिए गये और उन्हें पहचानने में थोड़ा समय लगा। उन्हें लगा कि गोस्वामीजी तो अच्छे-

खासे स्वस्थ और मोटे-ताजे हो गये हैं। इसलिए उन सज्जन से बिना पूछे नहीं रहा गया। उन्होंने कहा कि आप पहले तो बहुत दुबले थे, इतने मोटे कैसे हो गये? इस पर तुलसीदासजी ने एक दोहा कहा, जो उनके ही नाम से प्रसिद्ध है :

तुलसी हरि भेंटे नहीं, नहीं रही समताई।
हरि भेंटे संशय गई ताते देह मोटाई॥

भई, पहले ईश्वर नहीं मिला था, जब तक उसको हृदय से नहीं लगाया था तब तक हमें अपना जीवन निरर्थक और अभावग्रस्त प्रतीत हो रहा था, लेकिन जब प्रभु ने अपना लिया और जीवन का संशय मिट गया तो देह भी मोटी हो गई। जीवन को भी लगने लगा कि मेरी भी सार्थकता है, मेरा भी उपयोग है। इसका अभिप्राय यह है कि भक्त शरीर को निरर्थक कैसे मानेगा, मिथ्या कैसे मानेगा? उसकी दृष्टि से इस शरीर के द्वारा भजन होगा और इसी सत्य का समर्थन आपको मिलेगा, काकभुशुण्डिजी के सम्बन्ध में। काकभुशुण्डिजी से जब पूछा गया कि आप शरीर छोड़कर मुक्त क्यों नहीं हो जाते तो उन्होंने यही बात कही कि नहीं मैं शरीर को रखना चाहता हूं, मैं शरीर का पक्षधर हूं। क्योंकि **तन बिनु बेद भजन नहिं बरना**, शरीर के बिना भजन कैसे होगा। अतएव मैं चाहता हूं कि शरीर बना रहे जिससे अधिक-से-अधिक भजन हो सके। इसलिए मनु का शरीर मोटा हो जाने में भी **हरि भेंटे संशय गई ताते देह मोटाई**, का तत्त्व ही विद्यमान है। अतः मनु ने आकाशवाणी के प्रत्युत्तर में कहा कि अब तो शरीर की स्थिति को देखकर यही मांगना पड़ रहा है कि अभी तक तो मैंने इन्द्रियों को जीतने की चेष्टा की किन्तु अब मैं कुछ और ही चाहता हूं। तो अब आपकी क्या मांग है? मनु बोले महाराज, अब तो मैं चाहता हूं :

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।
बिधि हरि हर बंदित पद रेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक।
प्रनतपाल सचराचर नायक॥
जौं अनाथ हित हम पर नेहू।

तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ।।
जो सरूप बस सिव मन माहीं ।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ।।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा ।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।। १/१४५/१

महाराज, अब तो शरीर को धन्य बनाना है, इन्द्रियों को सार्थक बनाना है। यही दशरथ के चरित्र की पृष्ठभूमि है। भक्ति का तात्पर्य है जहां पर दशेन्द्रियों की सार्थकता हो। हम इस शरीर का भी भक्ति के रूप में सदुपयोग कर सकते हैं, यह मिथ्या नहीं है, निरर्थक नहीं है। नेत्र के द्वारा भगवान् का रूप देखेंगे। जब उनकी आकांक्षा पूर्ण करने के लिए ईश्वर प्रकट होगा तो प्रश्न उठता है कि वह साकार प्रकट होगा या निराकार। परन्तु निराकार तो नेत्रों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, इसलिए महाराज मनु के नेत्रों को सन्तुष्ट करने के लिए निराकार को साकार बनना चाहिए :

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना ।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना ।। १/१४५/८

भगवान् प्रकट हो गये। प्रभु ने पूछा कि अब क्या चाहते हो ? मनु ने कहा कि महाराज, पहले जब तक आप दिखाई नहीं देते थे तब तक मन होता था कि दिखाई दें, और अब दिखाई देने लगे तो इच्छा हो रही है कि आपको अपना बालक बना सकूं। क्योंकि दर्शन में कितना आनंद है ! यदि आपको गोद में ले सकूं तो यह शरीर सार्थक हो जाये। इससे बढ़कर जीवन की क्या धन्यता होगी ! मनु की प्रार्थना को स्वीकार करके भगवान् श्री राम सचमुच पुत्र बन गये ! अभिप्राय यह कि 'दशरथ' की इससे बढ़कर सार्थकता और क्या होगी कि उन्होंने श्री राम को सगुण साकार बना दिया :

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ ।
जे हर हिय नयननि कबहुं निरखे नहीं अघाइ ।। २/२०९

महाराज मनु दशरथ के रूप में जन्म लेते हैं और अपनी सभी इन्द्रियों

को इतना सार्थक बना रहे हैं कि जिसकी कोई सीमा नहीं। वे श्री राम को नेत्रों से देखते हैं, उनके शब्द कानों से सुनते हैं और जब उन्हें गोद में लेकर चलते हैं तो दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्द को पाने के बाद कौन कह सकता है कि संसार मिथ्या है, शरीर मिथ्या है। जिस शरीर के द्वारा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त हो, उसकी सेवा-भजन होता रहे इसी में जीवन की सार्थकता है, यह दशरथ का सत्य है, मनु का सत्य है। लेकिन आनन्द क्या है? आनन्द यही है कि दशरथजी ने अन्त तक मुक्ति को पास नहीं फटकने दिया। लंका-युद्ध के प्रसंग में आपने पढ़ा होगा कि जब भगवान् राम युद्ध में विजयी हुए तो इन्द्र ने कहा कि महाराज, रावण मारा गया। इन्द्र के मुख से इस वाक्य को सुनते ही दशरथजी ने तुरन्त पूछा कि क्या मेरे पुत्र ने रावण को मार डाला? इन्द्र को हंसी तो आई, पर उसने हंसी को प्रकट नहीं होने दिया और कहा कि हां महाराज, आपके पुत्र ने रावण को मार दिया। आप जब ईश्वर को पुत्र ही मानने लगे हैं तो क्या किया जाये! सचमुच सगुण-साकार ईश्वर ही तो भक्तों का सर्वस्व है, भक्तों ने ही तो उसे जन्म दिया है। यदि भक्त न हों तो सगुण-साकार ईश्वर व्यक्त हो ही नहीं सकता। इसलिए सगुण-साकारवादी का पिता होना सार्थक है, क्योंकि ईश्वर तो वस्तुतः उन्हीं के कारण सगुण-साकार हुआ है। अतः गोस्वामीजी ने कहा कि बेचारा ब्रह्मा तो घबरा गया, क्योंकि उसने सारी सृष्टि बनाई किन्तु समस्त सृष्टि का निर्माण करने के बावजूद उसको यश नहीं मिला। क्योंकि जो वस्तु बनी, उसमें कोई-न-कोई कमी रह गई, और जब भी कोई देखता है तो कह देता है कि हां, अच्छी तो बनी है, पर इसमें इतनी कमी अवश्य रह गई है :

रूख कलपतरु सागरु खारा। २/११८/४

कल्पतरु बनाया तो उसे वृक्ष का रूप-आकार दे दिया और अथाह जलयुक्त विशाल समुद्र बनाया तो उसे खारा कर दिया। इसलिए बेचारा ब्रह्मा दुःखी हो गया। किन्तु श्री राम को देखकर लोगों ने कहा कि ये ब्रह्मा के बनाये हुए नहीं हैं :

आपु प्रगट भए बिधि न बनाए। २/११९/२

बेचारे ब्रह्मा के विरुद्ध यह तर्क दिया गया कि यदि उन्होंने बनाया होता तो कुछ-न-कुछ कमी अवश्य होती, किन्तु इनमें कोई कमी नहीं है; इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा ने इन्हें बनाया ही नहीं। जब लोग ब्रह्मा की आलोचना करने लगे कि जिस संसार को तुमने बनाया वह दोषयुक्त है और ईश्वर पूर्ण है तो ब्रह्मा ने तुरन्त उंगली उठा दी दशरथजी की ओर और गोस्वामीजी ने लिखा :

जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ बिधाता।
महिमा अवधि राम पितु माता॥ १/१५/८

ब्रह्मा ने हंसकर कहा कि मैंने भले ही ईश्वर को न बनाया हो पर ईश्वर को साकार बनानेवाले को तो हमने ही बनाया है, और जब हमने इतनी बड़ी कृति रच दी कि वह ईश्वर को साकार बना सके तो अब तुम मान गये होगे कि हम कितने बड़े कृतिकार हैं। सचमुच ईश्वर को पुत्र कहने का साहस तो भक्त और सगुण-साकारवादी ही कर सकता है। यह तो बड़ा अनोखा नाता है, और सचमुच महाराज श्री दशरथ भगवान् राम के सामने आ गये। भगवान् राम ने उनकी भावना का आदर किया। प्रभु ने जब देखा कि पिताजी लंका के रणागंण में आ गये हैं तो तुरन्त लक्ष्मणजी-सहित उठ खड़े हुए :

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा।
आसिरबाद पितां तब दीन्हा॥ ६/१११/२

उन्होंने पिताश्री की वन्दना की और पिता ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। इस पर भगवान् राम ने तुरन्त कहा :

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ।
जीत्यों अजय निसाचर राऊ॥ ६/१११/३

यह सब आपके पुण्य का प्रभाव है जो मैंने अजेय निशाचर को जीत लिया। यह सुनकर महाराज श्री दशरथ बड़े प्रसन्न हुए। भगवान् राम ने सोचा कि अब नाटक तो समाप्त होगा, और नाटक की समाप्ति ज्ञान से ही होनी चाहिए। इतने दिनों तक भक्त की आकांक्षा को स्वीकार करके मैं पुत्र के रूप में रहा लेकिन अब तो महाराज दशरथ को फिर से अलग करना पड़ेगा, क्योंकि अगर हमारे प्रति इनकी यही

भावना बनी रही तो कहीं मुझसे अलग होने में इन्हें दुःख न हो। अतः प्रभु ने तुरन्त उनको ज्ञान दिया। इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने स्पष्ट लिखा है :

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।
चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना।। ६/१११/५

ज्ञान का उदय होते ही परिवर्तन आ गया। वहां पहुंचने पर तो प्रभु ने उन्हें प्रणाम किया था—**अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा,** किन्तु जाते समय **बार-बार करि प्रभुहि प्रनामा,** दशरथजी ने प्रभु को बार-बार प्रणाम किया। लेकिन जब जाने लगे तो कहां गये ? गोस्वामीजी ने एक शब्द जोड़ दिया—**दसरथ हरषि गए सुरधामा।** भगवान् के धाम या किसी दिव्य लोक में नहीं गये। दशरथजी को मुक्ति नहीं मिली थी इसलिए स्वर्ग में चले गये। स्वर्ग से तो आवागमन बना रहता है। स्वर्ग में जाने का कारण बताते हुए गोस्वामीजी ने कहा :

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो।
दसरथ भेद भगति मन लायो।। ६/१११/६

दशरथजी इतने बड़े भेदवादी हैं कि उन्होंने कहा कि अच्छी बात है हम आपको ईश्वर मान लेते हैं, क्योंकि इसी रूप में आपकी मान्यता है। पहले मैंने आपको पुत्र के रूप में पाकर सुख प्राप्त किया था, अब सेवक के रूप में सुख प्राप्त करूंगा। दशरथजी ने भेद को स्वीकार किया, इसीलिए उन्हें स्वर्ग जाना पड़ा।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं।। ६/१११/७

भेद को स्वीकार करनेवाले मोक्ष नहीं पायेंगे, और भगवान् कह चुके हैं कि मुक्ति चाहो तो मुक्ति मांग लो, पर मैं मुक्तों के साथ मुक्तों-जैसा व्यवहार करता हूं। और जब भक्त मिल जाये तब तो रस ही दूसरा है। गंगा के किनारे केवट मिल गया। यह केवट गंगा के किनारे का पात्र है और गंगा का प्रतीक है—**राम भक्ति जहं सुरसरि धारा।** गंगा के तट पर खड़ा होनेवाला केवट वस्तुतः भक्त का प्रतीक है। उसने सुन रखा है कि भगवान् राम के चरणों में तारने का कोई ऐसा चमत्कार

है कि उन्होंने पत्थर को भी तार दिया। इसलिए उसे डर लग रहा है कि कहीं मेरी नाव को भी न तार दें। वह बोला कि महाराज, उस मुनि-पत्नी (अहल्या) को तारना तो ठीक था, पर यहां तारना ठीक नहीं। मुनिजी चाहते थे कि मेरी पत्नी जड़ से चेतन हो जाये और मैं चाहता हूं कि मेरी नौका ज्यों-की-त्यों बनी रहे, बिलकुल न बदले। इसका तात्पर्य है कि गौतम का तथ्य मुनि का तथ्य, ज्ञान का तथ्य है और केवट का तथ्य भक्ति का तथ्य है। जब केवट ने भगवान् को पार उतार दिया तो उसके होठों पर हंसी आ गई। वह बोला कि यह तो अच्छा हुआ अब एक नई बात जुड़ गई। अब तक लोग कहा करते थे कि ईश्वर पार उतारता है, पर मैंने तो ईश्वर को ही पार उतार दिया। लेकिन पार उतारने के बाद उसका कार्य दूसरे प्रकार का है। ज्ञानी कहते हैं कि एक बार पार उतर गये सो उतर गये, अब फिर लौटने की बात कहां! एक बार मुक्त हो गये तो फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं, इस सृष्टि में आने की बात नहीं। किन्तु केवट तो पक्षपाती है पुनरावर्तन का। जब भगवान् राम उतराई देने लगे तो केवट ने कहा कि मैं नहीं लूंगा। भगवान् जब हठ करने लगे तो केवट बोला कि आप देना ही चाहते हैं तो एक उपाय है :

फिरती बार मोहि जो देबा।
सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा।। २/१०१/८

लौटते समय आप जो दे देंगे वह मैं ले लूंगा। और सोचिए भला, श्री राम तो राज्य छोड़कर वन जा रहे हैं और इस समय उनके पास जो है लौटते हुए उसके भी कम होने की आशा है। क्या वहां से वे कुछ लेकर आनेवाले हैं जिससे वह कह रहा है कि अभी नहीं बाद में दे दीजिएगा। यह बात तो तब कही जायेगी जब किसी के पास अभी कमी हो और वह कहे कि अभी नहीं जब आपके पास अधिक हो जाये तो दे दीजिएगा। किन्तु केवट का आग्रह है कि लौटती बार दे दीजिएगा। केवट का अभिप्राय यह है कि महाराज, मुनि लोग चाहते हैं कि हम मुक्त हो जायें और हम चाहते हैं कि हमारा और आपका आवागमन बना रहे। देने के लिए आपको लौटाना तो पड़ेगा ही, इसलिए न तो हम मुक्त हों और न आप मुक्त हों। ज्ञानियों का कथन है कि एक मुक्त हो जाये और दूसरा आबद्ध रहे, यह ठीक नहीं। या तो

दोनों आबद्ध रहें या दोनों मुक्त रहें। वस्तुतः ज्ञान में जीव और ब्रह्म दोनों मुक्त हैं, किन्तु भक्ति में दोनों बंधे हुए हैं—भगवान् भी और भक्त भी। दोनों इसे स्वीकार भी करते हैं। केवट कहता है कि लौटते समय आप जो दीजिएगा वह मैं ले लूंगा। भगवान् राम को केवट की बात का इतना ध्यान रहा कि वे विमान से लौटते हुए गंगा-तट पर उतरे, हालांकि इस मार्ग से आने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु प्रभु केवट के बंधन में बंधे हुए थे। गंगा-तट पर पहुंचते ही वे तुरन्त विमान से उतरे और पूछा कि निषाद कहां है। निषादराज को जब प्रभु के आने की सूचना मिली तो उसने लोगों को पुकारते हुए पहला नाम किसका लिया :

इहां निषाद सुना प्रभु आए।
नाव नाव कहं लोग बोलाए॥ ६/१२०/६

'नाव-नाव', बस यही शब्द मुंह से निकले। इसका अभिप्राय यह है कि केवट सोचता है कि मेरी यह नौका धन्य है, यदि कहीं यह मुक्त हो गई होती तो फिर भगवान् कैसे आते ? और यह सभ्यता कितनी कल्याणकारी मिली कि भगवान् राम ने सेवक को हृदय से लगा लिया। सेवक ने कहा कि प्रभु आप आये पर सुना है कि विमान से आये हैं। आप नौका पर बैठकर पार नहीं उतरेंगे क्या ? प्रभु ने तुरन्त विनम्रता से कहा कि केवट तुमने एक बार पार उतारा उसी की उतराई नहीं दे पाया, अब फिर तुम पार उतार दोगे तो क्या कर पाऊंगा ? इसलिए ऋण स्वीकार कर लिया है, उसे चुकाने नहीं आया। जब भगवान् राम का राज्याभिषेक हुआ और निषाद गया तो प्रभु ने भक्त से वैसा ही विनोद किया जैसा केवट ने किया था। जब विदा करने का अवसर आया तो गोस्वामीजी संकेत करते हैं कि एक धाम तो ऐसा है जहां जाकर लौटना नहीं पड़ता, पर अयोध्या में कुछ दिन रखने के बाद भगवान् राम विदा करते समय कहने लगे कि मित्र घर भी तो जाओगे :

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा।
दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥ ७/१९/१

भगवान् राम ने वस्त्र और आभूषण पहना दिये और कहा :

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।
सदा रहेहु पुर आवत जाता ॥ ७/१९/३

हमारे-तुम्हारे बीच तो आने-जानेवाला ही नाता जुड़ गया है, हम तुम्हारे यहां गये तो तुमने हमें बांध लिया जिससे फिर आना पड़ेगा, और तुम मेरे यहां से जा रहे हो तो मैं तुम्हें बांध लेता हूं। यह नहीं कि चले गये तो बस वहीं रह जाओ, फिर लौटकर आना। अतः बन्धु, यह शरीर है और शरीर यदि जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण है तो मिथ्या क्यों, निरर्थक क्यों? इसकी सार्थकता क्यों नहीं? यदि ईश्वर स्वयं मानव-रूप में शरीरधारी बनकर आ गया तो ऐसी स्थिति में शरीर की सार्थकता है, नेत्रों की सार्थकता है, इन्द्रियों की सार्थकता है और दशरथ की सार्थकता है। इसलिए दशरथ का पक्ष साकार का पक्ष है और वे भक्ति के पक्षधर हैं, भेदवादी हैं।

अब देखिए अन्तर। जो अपने को भक्त मानते हैं वे बहुधा ज्ञान की निन्दा करने में आनन्द का अनुभव करते हैं। ज्ञान का विरोध करने में उनको ऐसा अनुभव होता है जैसे मानो उनकी भक्ति की निष्ठा काफी प्रबल है। वे ज्ञान की निन्दा करने और निराकार को अस्वीकार करने में ही भक्ति की पूर्णता मानते हैं। परन्तु गोस्वामीजी की मिलाने की पद्धति यह है कि भगवान् श्री राम जन्म तो लेते हैं अयोध्या में भक्त के यहां, जो भेदवादी और सगुण-साकारवादी हैं; किन्तु जन्म लेने के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर की यात्रा करते हैं, और यही भगवान् राम का सेतुत्व है। भगवान् राम अब निर्गुण-सगुण को मिलाने जा रहे हैं। और मिलाने के लिए भौतिक दृष्टि से कार्य क्या किया? भगवान् मनुष्य तो बन गये पर अब उन्हें ईश्वरत्व का प्रमाण-पत्र कौन देगा कि राम ब्रह्म हैं। श्री राम के जनकपुर आगमन का तात्पर्य ही यह है कि मानो वे यह दिखाना चाहते थे कि संसार का सबसे बड़ा वेदान्ती भी सगुण-साकार को अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु निराकारवादी और साकारवादी दोनों का प्रमाण-पत्र मिलना चाहिए। जो साकारवादी है वह तो उसे स्वीकार कर ही रहा है, पर निराकारवादी को भी तो स्वीकार करना चाहिए। अतः भगवान् श्री राम की जनकपुर-यात्रा, विश्वामित्र का उनको वहां लेकर जाना केवल विवाह के निमित्त की गई यात्रा नहीं है, यह केवल दो नगरों

का ही मिलन नहीं बल्कि यह तो दो विचार-दर्शनों का मिलन है। एक ओर मनु के जीवन में **होइ न बिषय बिराग** है तो दूसरी ओर इसके प्रतिकूल।

जनक का जीवन कैसा है? इस बारे में स्वयं महाराज श्री जनक स्वीकार करते हैं :

सहज बिराग रूप मनु मोरा। १/२१५/३

जनक सहज विरागी हैं तो मनु के जीवन में विराग का अभाव है। एक रागी और दूसरा विरागी। लेकिन कौतुकी प्रभु ने कैसा अनोखा खेल कर दिखाया कि आये विश्वामित्र के साथ, और जान-बूझकर दो भाई बनकर आये। अद्वैतवादी के सामने द्वैत लेकर आये मानो देखना चाहते हों कि इस द्वैत को वे स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं या नहीं। कहीं उनके अन्तःकरण में द्वैत की उत्पत्ति तो नहीं होती जा रही है। गोस्वामीजी ने लिखा कि जब जनकपुर में महाराज श्री जनक महर्षि विश्वामित्र का स्वागत करने के लिए आये, उस समय तक उन्हें महर्षि विश्वामित्र के ही आगमन का पता था, श्री राम के आगमन की कोई जानकारी नहीं थी। विश्वामित्रजी भी सगुण-साकार को प्रकट करने की कला में इतने कुशल हैं कि जब जनक के आने का समय हुआ तो महर्षि ने श्री राम और लक्ष्मण को आदेश दिया कि जाकर वाटिका में घूम आओ। विश्वामित्र और जनक के मिलन के पश्चात् जब सब बैठ गये तब भगवान् राम वाटिका से घूमकर लौटे। गोस्वामीजी ने आगे कहा कि जिस समय श्री राम और लक्ष्मण लौटकर आये उस समय जनक के साथ एक-से-एक बढ़कर ज्ञानी, महान् सेनापति, वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध विद्यमान थे, लेकिन अचानक एक अद्भुत दृश्य दिखाई दिया :

उठे सकल जब रघुपति आए। १/२१४/६

सबके-सब उठकर खड़े हो गये। विश्वामित्रजी मुस्कराये और उन्होंने श्री राम को अपने पास बैठा लिया, मानो जनक से कहा कि अभी तो मुझे ही अपने पास बैठाने का अधिकार है, तुम्हारे पास तो तब बैठेंगे जब तुम्हें आवश्यकता का अनुभव होगा। अभी तो तुम अपने-आप में परिपूर्णता का अनुभव करते हो। और हुआ भी यही। महाराज श्री

जनक की दृष्टि ज्यों ही श्री राम के सौन्दर्य पर गई तो वे देखते ही रह गये। यह देखकर विश्वामित्र आनन्दित हो रहे हैं कि चलो, रूप को मिथ्या माननेवाला सौन्दर्य के रस में डूब तो रहा है, उसका आनन्द तो ले रहा है, चकोर बनकर चन्द्रमा के सौन्दर्य को निहार तो रहा है। वस्तुतः महाराज जनक श्री राम के सौन्दर्य को देर तक निहारते रहे और उसके पश्चात् उन्होंने विश्वामित्रजी की ओर देखा और उनसे पूछा कि महाराज :

कहहुं नाथ जनि करहु दुराऊ ।। १/२१५/४

सच-सच बताइये ये कौन हैं ? विश्वामित्रजी ने व्यंग्य करते हुए कहा कि अभी तक तो लोग आपसे सच पूछने आते थे किन्तु अब आप मुझसे सच पूछ रहे हैं। अभी तक तो मैंने सुना है कि बड़े-बड़े मुनि आपसे सत्य ज्ञान प्राप्त करने आते थे, पर आज यह उलटी परम्परा कैसी ? आप पहले यह तो बताइये कि ये आपको क्या प्रतीत हो रहे हैं ? महाराज श्री जनक ने कहा कि मर्हिष, मुझे तो लगता है कि ये ब्रह्म हैं। यह सुनकर विश्वामित्रजी प्रसन्न हो गये पर उनकी हंसी में व्यंग्य का पुट भी था कि तुम तो अद्वैतवादी हो। यहां प्रत्यक्ष देख रहे हो कि एक नहीं दो हैं, और दोनों का रंग भी अलग-अलग है, तो ब्रह्म कैसे ? पर राजर्षि इसका उत्तर अर्द्धाली के अगले भाग में देते हैं :

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा ।
उभय बेष धरि की सोइ आवा ।। १/२१५/२

वेद ब्रह्म का प्रतिपादन 'न इति' 'न इति' कहकर करते हैं। एक ही रूप में आने पर उनकी घोषणा खण्डित हो जाती, इसीलिए वह श्याम और गौर दो रूप बनाकर आ गया है। द्वैत से अद्वैत और अद्वैत से द्वैत का यह अनोखा खेल चल रहा है। इसे अनोखा द्वैताद्वैत कह सकते हैं। नानकजी की वाणी है :

आपुन खेल आपु करि देखै ।
खेल सकोचै तो नानक एकै ।।

अपना खेल वह स्वयं खेलकर देखता है और जब वह उसे समेट लेता है तो अकेला रह जाता है। अतः एक से अनेक बन जाना और अनेक

से एक बन जाना, दोनों कलाओं में जो निपुण है उसके लिए दो रूप बना लेना क्या कठिन है? सगुण-साकार ब्रह्म के साक्षात्कार से महाराज जनक का विरागी मन आज रागी हो गया, इसे वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और कहते हैं :

सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउं सतिभाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥ १/२१५/३

आज मेरा विरागी मन जिस दिव्य रसमयता का अनुभव कर रहा है ऐसी रसमयता का अनुभव मैंने जीवन में पहले कभी नहीं किया था। यह बात पूरी तरह सच है, क्योंकि जीवन की सन्तुष्टि बिना अद्वैत के नहीं होती और भावना का आनन्द बिना द्वैत के नहीं होता। निराकार विचारों को भले ही सन्तुष्ट कर दे पर बिना ईश्वर की साकारता के इन्द्रियां और नेत्र कैसे सन्तुष्ट होंगे? व्यक्ति के जीवन में पूर्ण रसमयता का बोध कैसे होगा? किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि आप निराकारवादी हैं या साकारवादी? इसके उत्तर में गोस्वामीजी ने पूछा कि यदि घर में दो अतिथि आ जायें तो क्या एक को भगा देना और दूसरे को ठहरा लेना सभ्यता है, अथवा दोनों का सम्मान करना? जिज्ञासु ने कहा कि महाराज, दोनों का सम्मान करना चाहिए। तब गोस्वामीजी ने कहा कि हमारे पास जो घर है उसमें कई कमरे हैं। इसलिए एक में मैंने निर्गुण को ठहरा दिया और दूसरे में सगुण को। यह तो बताइये कि ठहराया कहां है? उन्होंने कहा कि निर्गुण-निराकार को तो नीचेवाले कमरे में ठहरा दिया और सगुण-साकार को ऊपरवाले कमरे में—**हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण**; और यही है गोस्वामीजी का समन्वय। हृदय में निर्गुण निराकार का अभिप्राय है कि अन्तर्यामी के रूप में जीव-तत्त्व की अभिन्नता की दृष्टि से उसका वहां होना स्वाभाविक ही है, और नेत्रों की तृप्ति तो उसके सगुण-साकार होने पर ही होगी, अर्थात् अगर कहीं ईश्वर सचमुच साकार न हुआ तो नेत्र किस काम आयेंगे! इसलिए निर्गुण और सगुण की जो व्याख्या गोस्वामीजी ने प्रस्तुत की वह इस प्रसंग में भी सार्थक है। महाराज जनक की पत्नी का नाम था सुनयना और अब तक जनक ने

अपना ही ध्यान रखा था, सुनयना की तरफ ध्यान नहीं दिया, किन्तु पति और पत्नी, दोनों मिलकर ही तो पूर्ण होते हैं। तात्पर्य यह कि 'सुनयना' शब्द की सार्थकता तो बिना साकार के हो ही नहीं सकती। अब तक केवल जनक सार्थक थे, विदेह सार्थक थे पर सुनयना सार्थक नहीं थीं। जनक तो डूब ही गये रस में, उन्होंने सगुण-साकार को स्वीकार ही कर लिया। जब लक्ष्मणजी के हृदय में नगर देखने की इच्छा हुई और प्रभु ने कहा कि मैं दिखा लाऊं तो विश्वामित्रजी ने हंसकर कहा कि देखने-दिखाने की बात तो तुम दोनों भाई जानो हम तो एक ही बात जानते हैं :

जाइ देखि आवहु नगरु सुख विधान दोउ भाइ। १/२१८

क्योंकि बेचारों के नेत्र इतने दिन से व्यर्थ पड़े रहे, केवल विचार-ही-विचार पूर्ण हो पाया और नेत्र सार्थक नहीं हो पाये, इसलिए विश्वामित्रजी ने कहा :

करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ॥ १/२१८

निराकार को देखना हो तो बाहर का निषेध करके भीतर देखना पड़ेगा, किन्तु पूर्णता तभी है जब भीतर देखें तो वही दिखाई दे और बाहर देखें तो भी वही दिखाई दे, नेत्र मूंदें तो भी वही मिले और नेत्र खोलें तो भी वही मिले। सच्चा समन्वय तभी होगा। यदि नेत्र मूंदने पर राम मिलें और नेत्र खोलने पर संसार मिले, तब तो जिंदगी में बंटवारा हो गया राम और संसार में। अतः तुलसीदासजी ने कहा कि श्री राम का सौन्दर्य देखने के बाद सारी जनकपुरवासिनी स्त्रियां एक-दूसरी से श्री राम का वर्णन कर रही हैं। गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि जरा इन स्त्रियों का नाम तो बता दीजिए, परिचय तो दीजिए। अन्य ग्रन्थों में तो कहीं-कहीं इन स्त्रियों के नाम भी बताये गये हैं, पर गोस्वामीजी ने बड़ा सांकेतिक शब्द चुना। उन्होंने कहा :

कहहिं परसपर कोकिलबयनीं। १/३०९/७

श्री राम के वर्णन में ही तो वाणी की सार्थकता है। इसलिए श्री राम के सौन्दर्य का वर्णन करनेवाली **कोकिलबयनीं** हैं। लेकिन

स्त्रियां आपस में एक-दूसरी को क्या कहकर पुकारती हैं ? इसके उत्तर में गोस्वामीजी ने कितना अर्थपूर्ण शब्द चुना :

कहहिं परसपर कोकिलबयनीं ।
एहि बिआहं बड़ लाभु सुनयनीं ।। १/३०९/७

सब एक-दूसरी से कहती हैं कि तुम तो सुनयनी हो । अब तो जनकपुर में सब 'सुनयना' ही सुनयना हैं, यहां सारे नाम समाप्त हो गये और अब केवल सुनयना नाम रह गया है । इस तरह श्री राम का सौन्दर्य जनक और सुनयना दोनों को ही सार्थकता प्रदान करता है । महर्षि विश्वामित्र ने राघव को **सेतु संरक्षक** कहकर सम्बोधित किया, सचमुच भगवान् श्री राम हर क्षेत्र के सेतु हैं । आगे की चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे ।

22-6-84

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

४

भगवान् श्री राम को महर्षि विश्वामित्र द्वारा जो उपाधि दी गई उसकी सार्थकता पर हम एकाग्र और शान्त चित्त से विचार करें। नगर-दर्शन के प्रसंग में महर्षि ने श्री राम को धर्मसेतु के संरक्षक की उपाधि दी। गुरु वशिष्ठ अयोध्याकांड में कहते हैं कि वस्तुतः तुम साक्षात् सेतु ही हो :

धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम। २/२४८

भगवान् राम के चरित्र के लिए यह सेतु शब्द बड़ा सार्थक है। सेतु का कार्य है मिलाना, जोड़ना, व्यवधान को समाप्त करना। भगवान् श्री राम द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में दूरी के निवारण का प्रयास किया जाता है और सचमुच इस सेतु के माध्यम से एक-दूसरे से भिन्न अथवा पृथक् प्रतीत होनेवाले सन्निकट आ जाते हैं। इस सन्दर्भ में कल आपके सामने जिस प्रसंग का विवेचन किया जा रहा था उसका कुछ भाग अवशिष्ट है, उसे मैं स्पष्ट करना चाहूंगा। यह दूरी विचार, भावना और व्यवहार सभी क्षेत्रों में दिखाई देती है। भगवान् श्री राम इन तीनों क्षेत्रों की दूरी को मिटाते हैं जिसका सबसे बड़ा प्रमाण है महाराज श्री दशरथ और राजर्षि जनक का मिलन। यह केवल दो राजाओं का ही मिलन नहीं अपितु दो भिन्न दर्शन के आचार्यों का मिलन था। महाराज श्री दशरथ द्वैतवादी हैं, भक्त हैं और महाराज श्री जनक अद्वैतवादी हैं, निराकारवादी हैं और संसार के महान्‌तम ज्ञानी हैं। समाज में बहुधा ऐसा देखा जाता है कि ज्ञानियों और भक्तों में एक प्रकार की अकुलाहट अथवा दूरी बनी रहती है पर रामचरितमानस में तो दोनों एक-दूसरे के इतने निकट आ गये, दोनों के सम्बन्धों में इतनी अधिक मधुरता है कि उसकी तुलना किसी अन्य प्रसंग, किसी अन्य नाते से कर पाना बड़ा कठिन है। यहां द्वैतवादी,

अद्वैतवादी, निराकारवादी, साकारवादी परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे के सम्बन्धी हैं। भगवान् श्री राम ने महाराज श्री दशरथ से पिता-पुत्र का नाता जोड़ लिया। इसका तात्पर्य पहले आपके सामने स्पष्ट किया जा चुका हैं कि वस्तुत: ईश्वर को सगुण-साकार के रूप में परिणत करने का अनुरोध करने या उन्हें बाध्य करने वाला तो भक्त ही है। इस दृष्टि से जैसे पिता के माध्यम से ही पुत्र का जन्म होता है उसी प्रकार सगुण-साकार ईश्वर का जन्म यदि भक्त के माध्यम से हुआ तो यह बड़ा सार्थक सम्बन्ध है। लेकिन जनक-सम्बन्धी प्रसंग बड़ा विलक्षण है। अत: कुछ और गहराई में उतरने की आवश्यकता है। भगवान् राम ने सोचा कि जनकजी से नाता कैसे जुड़े ! पिता और पुत्र का नाता तो सीधा नाता है लेकिन श्वसुर और जामाता का नाता कन्या के माध्यम से है, अगर कन्या न होती तो यह नाता जुड़ ही नहीं सकता। महाराज श्री दशरथ का नाता तो सीधे श्री राम से है और महाराज जनक का नाता श्री राम से सीताजी के माध्यम से है। यदि इसके अन्तरंग अर्थ पर विचार करें तो इसका तात्पर्य यह है कि श्री सीताजी मूर्त्तिमती साक्षात् पराभक्ति हैं :

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥ २/३२१

भगवान् राम ने समझ लिया कि अगर ज्ञानी से नाता जोड़ना है तो उनके घर में भक्ति का जन्म होना आवश्यक है। अगर भक्तिदेवी पुत्री के रूप में उनके घर में नहीं आयेंगी तो उनसे नाता भी नहीं जुड़ेगा। इसका अभिप्राय यह है कि जो कोरा निर्गुण-निराकारवादी है वह अपने-आप में परिपूर्णता का अनुभव करता है। दोनों में यह बड़ी विलक्षणता है कि ज्ञान में पूर्णता की अनुभूति है और भक्ति में अभाव का अनुभव। ये दोनों ही अलग-अलग वृत्तियां हैं। अत: महाराज श्री जनक के घर में पहले श्री सीताजी का जन्म हुआ या इससे भी अनोखी पद्धति में कहें तो कह सकते हैं कि अचानक ही श्री सीताजी महाराज श्री जनक को मिलीं। निष्काम कर्मयोगी महाराज श्री जनक को लोक-कल्याण के लिए, वर्षा के लिए हल चलाते हुए जब उसकी नोक पृथ्वी में गहरी धंसी तो अचानक एक दिव्य कन्या उन्हें प्राप्त हो गई। रामचरितमानस में बुद्धि की तुलना भूमि से की गई है :

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू॥ १/३५/३

यहां भी सुमति भूमि कहकर बुद्धि और भूमि की तुलना है। और अयोध्याकाण्ड में भी श्री भरत-चरित्र के सन्दर्भ में आता है :

सोक कनकलोचन मति छोनी।
हरी बिमल गुन गन जगजोनी॥ २/२९६/३

यहां भी कहा गया कि पृथ्वी बुद्धि है। अतः महाराज श्री जनक द्वारा इस पृथ्वी पर हल चलाते हुए इस कन्या की उपलब्धि का तात्पर्य यह हुआ कि सुमति की भूमि में जब विचारक ने हल चलाया तो विचार और बुद्धि का मिलन हुआ। इसमें विचार की भी प्रशंसा है कि उसमें सूक्ष्मता है या नहीं, नुकीलापन है या नहीं। अतः विचार और बुद्धि के मिलन की सबसे बड़ी सार्थकता यही है। वैसे तो बहुत-से लोग हल चलाते हैं, और हल चलाना कर्म का प्रतीक है, पर हम लोग हल चलाते हुए पृथ्वी से कुछ-न-कुछ चाहते हैं। और चाहने की परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए हम देखते हैं कि किसान न केवल हल चलाता है, बल्कि उसके साथ-साथ बीज भी डालता है। हम लोग भी विचार और बुद्धि के द्वारा उसका उपयोग तो करते हैं किन्तु उसमें कामना का बीज विद्यमान है। हम चाहे जितने बुद्धिमान हों, हम चाहे जितने विचारक हों हमारे अन्तःकरण में आकांक्षाएं हैं, कामनाएं हैं अतः हम कर्म के द्वारा, अपने विचार के द्वारा, अपनी बुद्धि के द्वारा उसी कामना की पूर्त्ति चाहते हैं। जब तक ऐसी स्थिति है तब तक तो स्वाभाविक है कि हम जो बोयेंगे वही पायेंगे। यदि हम कामनावश बुद्धि का प्रयोग करेंगे, विचार का प्रयोग करेंगे तो उसी की उपलब्धि होगी। महाराज श्री जनक के अन्तःकरण में तो पूरी तरह से निष्कामता है, वे पूर्णकाम हैं और उनके अन्तःकरण में कुछ भी पाने की इच्छा नहीं है। किन्तु श्री रामचरितमानस की मधुर मान्यता है कि जिसे कुछ भी पाने की इच्छा नहीं थी उसे अचानक मिल गई—श्री सीता। इसका अभिप्राय यह है कि जो पूर्णकाम, निष्काम महापुरुष हैं यदि उनके जीवन में भी, वे भले ही भक्ति की आवश्यकता का अनुभव न करें, भक्ति का जन्म हो जाना ही विचार और बुद्धि की सबसे बड़ी

सार्थकता है। निष्कामता की चरम परिणति जीवन में भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाना, भक्तिदेवी का उदय हो जाना है और इस प्रकार महाराज श्री जनक के चरित्र में श्री सीता का प्राकट्य मानो निष्कामता और विचार की पराकाष्ठा में भक्ति की उपलब्धि है। इसलिए कहा जा सकता है कि संसार में जो सकाम व्यक्ति हैं वे तो कामना की पूर्त्ति के लिए भक्ति का आश्रय लेते हैं पर जिनके अन्तःकरण में निष्कामता है, जो महान् विचारक हैं, उनके जीवन में भक्ति की अपेक्षा है या नहीं ? इसका उत्तर रामचरितमानस में यह दिया गया है कि भक्ति के द्वारा रसमयता की वृद्धि जिस विचारक के जीवन में हो जायेगी भक्ति के अभाव में वह दिव्य रसमयता नहीं आ सकती। रामचरितमानस में इसे और भी सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया गया है पर मैं उसे उतने सूक्ष्म रूप में नहीं रखना चाहूंगा, क्योंकि उससे पाठक को थोड़ी कठिनाई हो सकती है। गोस्वामीजी ने उत्तरकाण्ड में कहा है कि ज्ञान के द्वारा मुक्ति तो प्राप्त हो जाती है पर मुक्ति-सुख बिना भक्ति के नहीं मिलता। उन्होंने इन दोनों का विभाजन किया है—मुक्ति में और मुक्ति-सुख में। ज्ञान-दीप और भक्ति-महिमा के प्रसंग में वे कहते हैं :

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भांति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥ ७/११८/५

जैसे हम जल चाहते हैं लेकिन जल का टिकना तो पृथ्वी पर निर्भर है। किन्तु बिना किसी आधार के जल कैसे टिकेगा ? अतः गोस्वामीजी कहते हैं कि यह मोक्ष-सुख मानो जल के समान है और भक्ति उसका आधार है और भक्ति के द्वारा ही मोक्ष-सुख की अनुभूति होती है। इसलिए किसी वस्तु का होना और बात है और उस वस्तु के होने के सुख की अनुभूति और बात है। यह बात तो प्रत्यक्ष भी दिखाई देती है। मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास हीरा है, पर हीरा होने का जो सुख है उसकी अनुभूति के लिए व्यक्ति के लिए आवश्यक क्या है ? उसको हीरे के विषय में यह ज्ञात हो कि यह हीरा है और हीरा होने के ज्ञान से उसकी मानसिक दरिद्रता दूर हो जायेगी। लेकिन

व्यावहारिक दरिद्रता कब दूर होगी ? गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में एक बड़ा सार्थक दृष्टान्त दिया कि जैसे कोई व्यक्ति दरिद्रता के कष्ट से संत्रस्त है और दरिद्रता के संकट से संत्रस्त व्यक्ति के पास एक चमकीला टुकड़ा पड़ा हुआ है जिसे वह भूल से कांच माने बैठा है, किन्तु किसी चतुर जौहरी या पारखी ने बता दिया कि यह हीरा है। जब तक उसको यह ज्ञात नहीं था तब तक वह अपने को दरिद्र मानता था किन्तु जब उसे ज्ञान हो गया तो उसके मन का यह भ्रम मिट गया कि मैं दरिद्र हूं। लेकिन उक्त भ्रम मिट जाने के बाद भी क्या उसकी भूख मिट गई ? हीरे के ज्ञान से मानसिक दरिद्रता तो मिट जायेगी पर पेट की क्षुधा थोड़े ही शान्त होगी ! तब उसे उस रत्न का मूल्य प्रकट करना पड़ेगा। वह उस रत्न को लेकर बाजार जायेगा और उसके माध्यम से उसका मूल्य प्राप्त करेगा और मूल्य के माध्यम से वस्तु ले आयेगा और जब वस्तु ले आयेगा तो उसकी क्षुधा की शान्ति होगी। गोस्वामीजी इसी बात को दोनों से जोड़ देते हैं और कहते हैं कि ज्ञान के द्वारा हमने जान लिया किन्तु—

नाम निरूपन नाम जतन तें।
सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ॥ १/२२/८

जैसे रत्न का मूल्य प्रकट होने के बाद ही समस्याओं का पूरा समाधान होता है इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा हमारी वैचारिक दरिद्रता भले ही मिट जाये पर वस्तुतः आन्तरिक तृप्ति का बोध तब तक नहीं होगा जब तक कि हम उसे मूल्य के रूप में परिणत नहीं करेंगे। मूल्य के रूप में परिणत करने का तात्पर्य है कि जीवन में भक्ति की आवश्यकता है। गोस्वामीजी ने उसका सूक्ष्म सांकेतिक वर्णन किया है कि महाराज जनक स्वयं पूर्णकाम हैं, परम विरागी हैं, उनके जीवन में किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है और बड़े-बड़े महामुनि उनसे ज्ञान और शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं लेकिन अचानक ही निष्काम कर्मयोगी जनक को हल चलाते हुए श्री सीताजी प्राप्त हो जाती हैं, भक्ति प्राप्त हो जाती है, जो मानो जीवन की सच्ची सार्थकता थी। जब उन्होंने श्री सीताजी को देखा तो कन्या के रूप में भावनात्मक नाता जोड़ लिया। यह ठीक भी है, क्योंकि ज्ञानी ने नाता भी जोड़ा तो अपने स्वभाव के अनुकूल। इसका तात्पर्य यह हुआ कि महाराज श्री दशरथ

के घर श्री राम का और महाराज श्री जनक के घर श्री सीताजी का जन्म हुआ। तत्त्वत: दोनों एक ही हैं पर नाते में भेद है। महाराज श्री दशरथ और श्री राम का पिता और पुत्र का नाता है तथा जनक और श्री सीताजी का पिता और पुत्री का भावनात्मक नाता है। और दोनों नातों में अन्तर यह है कि पिता और पुत्र के नाते में कुछ-न-कुछ स्वार्थ और कामना तो बनी ही हुई है। पिता पुत्र से स्नेह करता है तो उसके मन में यह भरोसा रहता है कि जब मैं बूढ़ा हो जाऊंगा तो भविष्य में पुत्र मेरी सेवा करेगा। इसलिए वहां कुछ-न-कुछ पाने की आकांक्षा है, किन्तु पिता और पुत्री के नाते में तो देना-ही-देना है, पाना नहीं। अत: रामायण में यहां सचमुच सकामता और निष्कामता का भी मिलन हो गया। दशरथ सकाम हैं, जनक निष्काम हैं। कोई कह सकता है कि जीवन में कर्म तो बिना कामना के हो ही नहीं सकता और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं, जब तक व्यक्ति के जीवन में निष्कामता नहीं आयेगी तब तक धन्यता नहीं आ सकती। अतएव सकामता ठीक है या निष्कामता? यह सकामता और निष्कामता मानो नदी के दो किनारे हैं और सेतु बनकर भगवान् ने दोनों को जोड़ दिया। सकामता बहुत अच्छी है। होनी भी चाहिए, क्योंकि कामना नहीं होगी तो काम कैसे बनेगा! महाराज दशरथ में कामना है और उस कामना का ही तो यह परिणाम हुआ। कामना अर्थात् हमारी इच्छाओं की पूर्त्ति। कामना करते हुए हमको बार-बार यह अनुभव होगा कि जिस वस्तु की हम कामना कर रहे हैं, वह हमें मिलती जा रही है, लेकिन सन्तोष न होने पर तो हमारी कामना और बढ़ेगी। और कामना का बढ़ना ही तो भक्ति है। इसलिए गोस्वामीजी ने पूरे रामचरितमानस की रचना के बाद भगवान् से कहा कि अब दीजिए वरदान। कैसा वरदान? भक्ति का वरदान दीजिए। इस पर भगवान् ने पूछा कि कैसी भक्ति चाहते हो, भरत की तरह या लक्ष्मण की तरह अथवा हनुमान की तरह? गोस्वामीजी ने प्रणाम किया और कहा कि प्रभु, क्या ये बड़े-बड़े नाम लेने का साहस मैं कर सकता हूं? मैं किस मुंह से कहूं कि भरतजी के समान, लक्ष्मणजी के समान या हनुमानजी के समान भक्ति दीजिए। तो फिर तुम किस प्रकार की भक्ति चाहते हो? और गोस्वामीजी तुरत क्या अनोखी बात कहते हैं :

कामिहि नारि पिआरि जिमि ... ७/१३०(ख)

कितना सुन्दर चुनाव है ! सकामता निन्दनीय क्यों है ? कामी व्यक्ति सौन्दर्य की उपासना करता है तो गोस्वामीजी उलटकर कहते हैं कि यही सौन्दर्य की प्यास क्या श्री राम के सौन्दर्य को खोजने का कारण नहीं बन सकती ? हम कामना की निन्दा कैसे करें ? जो कामना अन्ततोगत्वा हमें ईश्वर के पास पहुंचा सकती है, ईश्वर की खोज की दिशा में ले जा सकती है वह निन्दनीय नहीं है। इसलिए गोस्वामीजी भगवान् से कहते हैं कि आप मुझे वैसा ही प्रेम दीजिए जैसाकि कामी के जीवन में नारी के प्रति है, सौन्दर्य के प्रति है। और इसके साथ एक बहुत अच्छी बात और कही कि सकाम व्यक्ति के जीवन में कभी सन्तोष नहीं होता। हमारी-आपकी कामना कितनी भी पूर्ण क्यों न हो जाये पर क्या हम और आप कभी सोच सकते हैं कि बस, अब और कुछ नहीं चाहिए ? नहीं, कामना बनी ही रहती है। अत: गोस्वामीजी ने कहा कि महाराज **कामिहि नारि** तक ही मत रह जाइये इसके आगे भी एक वस्तु और दे दीजिए :

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥ ७/१३०(ख)

इसका अभिप्राय यह है कि जब तक मैं आपको पा नहीं लेता तब तक मेरी वृत्ति कामी-जैसी बनी रहे। वे तो स्वयं भी अनुभवी थे—सौन्दर्य के परम उपासक, अत्यन्त आसक्त। इसलिए उन्होंने कहा कि महाराज, ऐसा हो सकता है कि अभीष्ट वस्तु पाने के बाद कामी में शायद उतनी उमंग न रह जाये, उतनी आसक्ति न रह जाये, लेकिन यह तो लोभी में ही महानता है कि चाहे जितना मिल जाये पर उसे सन्तोष नहीं होता। अत: मैं चाहता हूं कि जब तक आप न मिलें तब तक मेरी वृत्ति कामी-जैसी रहे और जब आप मिल जायें तो लोभी-जैसी रहे। इस तरह गोस्वामीजी ने कामना और लोभ को एक नया रूप दे दिया। उन्होंने कहा कि लोभी होना बुरा नहीं है। अगर लोभ करते-करते ईश्वर का लोभ हो गया, अगर कामना होते-होते ईश्वर की कामना हो गई तो यह सर्वथा वांछनीय है। अन्तत: वहां पहुंचे बिना तो सन्तोष होगा नहीं। और यही हुआ भी। महाराज मनु ने सारा

साम्राज्य पा लिया पर सन्तोष नहीं हुआ। वही तो मूल रूप में दशरथ हैं। जब भगवान् राम उनके सामने आकर खड़े हुए तो उन्होंने मुस्कराकर मनु से कहा, जो वर मांगना हो मांगो, मांगो-मांगो। यह तो मांगने की बात सकाम से कही जा सकती है। महाराज जनक से थोड़े ही भगवान् राम ने कहा कि मांगो। महाराज दशरथ जो मनु हैं, उनसे कहते हैं कि मांगो। पहले भी कहा :

मागु मागु बरु ...। १/१४४/६

जो सकाम हैं तो भगवान् कहेंगे, 'मांगु'। इस पर उन्होंने कहा कि महाराज, आप क्या देंगे? भगवान् ने कहा कि जो मांगोगे वही दे देंगे। बड़े आये मांगनेवाले! अन्तर इतना ही है कि हम लोग सकाम तो हैं, पर उतने चतुर सकाम नहीं जितने कि मनु थे। इसलिए मनु ने सोचा कि भगवान् से दान मांगें या दानी को ही मांग लें। दान मांगूंगा तो सीमा होगी और यदि उन्हीं को मांग लूंगा तो फिर बार-बार नहीं मांगना पड़ेगा। अतः उन्होंने कहा कि महाराज, अब आपसे क्या मांगूं, मैं आपसे आपको ही मांगता हूं। इस तरह सकामता की चरम सार्थकता, चरम परिपूर्णता 'मनु' और दशरथ के मिलन में है। यहां भी भगवान् राम सामने हैं, और जनक हैं निष्काम। यदि कोई कहे कि सकामता ही चाहिए, निष्कामता नहीं चाहिए, तो फिर धारा का वही एक पक्ष हो गया। अतः निष्कामता का दूसरा पक्ष है—जनक, निष्काम जनक। भगवान् राम ने पहले श्री सीताजी को उनके घर में भेज दिया और भक्ति को भेज देने के बाद स्वयं भी पहुंच गये। वहां पहुंचकर बोले कि भई, निष्काम है तो लेने में संकोच है, पर देने में तो संकोच नहीं है न? मैं तो लेने आया हूं, दान ग्रहण करने के लिए आ गया हूं। ऐसे लोग हैं दोनों और मानो भगवान् ने दोनों को निमन्त्रण दे दिया। सकाम हो तो मांगो और निष्काम हो तो मुझे दो। इन दोनों को मिला दो न, मुझसे दोनों नाता जोड़ लो। अगर लेना है तो ईश्वर से लेंगे और देना है तो उसी को देंगे, समर्पण भी उसी के प्रति करेंगे। तो उनके घर में श्री सीताजी का जन्म तो भक्ति का प्राकट्य था, इन्हें जोड़ने का। इस सेतु के द्वारा नाता जोड़ने की एक अनोखी पद्धति निकाल ली गई। पिता-पुत्री का नाता अर्थात् निष्कामता का नाता, जहां देना है, लेना कुछ नहीं। महाराज श्री जनक के घर में

जब श्री सीताजी का जन्म हो गया तो फिर कहना ही क्या ? ज्ञानी के जीवन में यदि कहीं भक्ति आ जाये तो फिर उससे बढ़कर और क्या हो सकता है। भगवान् तो स्वयं कहते हैं कि मेरे चार प्रकार के भक्त हैं जिनमें **ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा**। केवल ज्ञानी होने के कारण तो रामचरितमानस में उसकी आलोचना की गई है, पर ज्ञान के साथ-साथ जिसके जीवन में भक्तिरस की परिपूर्णता है, वह तो मानो महाराज श्री जनक के समान धन्य हो गया। इसलिए रामचरितमानस में कहा गया कि संसार तो केवल इतना ही जानता था कि जनक योगी हैं और बहिरंग दृष्टि से देखनेवालों को शायद लगता था कि ये तो व्यवहार में हम ही लोगों के समान भोगी हैं। किन्तु गोस्वामीजी ने कहा कि अन्त में पता चला कि ये तो भीतर से कुछ और भी हैं :

प्रनवउं परिजन सहित बिदेहू।
जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग मंह राखेउ गोई।
राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥ १/१६/१

बस, श्री सीताजी के प्राकट्य का फल यह हुआ कि महाराज दशरथ को निमन्त्रण देकर श्री राम को बुलाना पड़ा। इसका अभिप्राय है कि जब हम किसी से कुछ चाहेंगे तो उसे सम्मान देना ही होगा। महाराज श्री जनक निष्काम हैं और उनके घर में भक्तिदेवी का प्राकट्य हो चुका है, किन्तु उन्होंने भगवान् राम को कोई निमन्त्रण-पत्र नहीं भेजा और बिना निमंत्रण के ही ईश्वर चला आया। यह तो सबसे बड़ी सार्थकता है, और इसका अभिप्राय यह है कि जहां जीवन में निष्कामता और भक्ति का दिव्य उदय हो गया वहां ईश्वर को बुलाने की आवश्यकता नहीं है, ईश्वर स्वयं सामने आ जाता है। इसलिए जनकपुर में तो यह चर्चा का विषय ही बन गया। श्री राम से, सगुण-साकार ईश्वर से नाता जोड़ने की माध्यम हैं सीता। अगर श्री सीताजी नहीं हैं तो नाता नहीं जुड़ेगा। जब श्री सीताजी प्राप्त हो गई तो फिर नाता इतना दृढ़ हो गया कि जनकपुरवासिनी स्त्रियों में भी चर्चा चलने लगी। विवाह के समाचार से बड़ा आनन्द छा गया जनकपुर में, पर उसके साथ-साथ यह भी चर्चा होने लगी कि विवाह के बाद विदाई भी तो हो जायेगी, वियोग भी तो हो जायेगा। तब तो बड़ा

दुःख होगा। ईश्वर को एक बार पाने के बाद खो देना पड़े, ईश्वर जीवन में निकट आ जाये और फिर दूर चला जाये यह तो बड़ा कष्टपूर्ण है। किन्तु चतुर सखी कहती है कि घबराने की बात नहीं। यदि एक बार चले जायेंगे तो सदा के लिए थोड़े ही चले जायेंगे। अब यहां मुक्तिरस के साथ-साथ भक्तिरस भी मिल गया। यदि सदा मिलन है तो यह ज्ञान की परम्परा है। पर भक्ति की विलक्षण परम्परा यह है कि मिलन-वियोग का रस एकसाथ मिले। भक्त माने जहां मिलन और वियोग दोनों हैं। इसके लिए बड़ा प्रसिद्ध प्रतीक है सन्त-परम्परा में। कहा जाता है कि सारस जोड़े के रूप में ही रहता है और दूसरा प्रतीक पक्षी चकवा-चकई हैं जो रात्रि के समय अलग हो जाते हैं। वृन्दावन के प्रसिद्ध सन्त की कल्पना के अनुसार दोनों एक दिन कहीं मिल गये और एक-दूसरे को फटकारने लगे। सारस ने चक्रवाक से कहा कि तुम व्यर्थ ही प्रेमी का नाम धरे हुए हो, तुम तो वस्तुतः प्रेमियों में कलंक हो। तुम्हारा यदि चक्रवाकी के प्रति सच्चा प्रेम होता तो उसके वियोग में क्या तुम जीवित रहते? अरे, वियोग में जीवित रहकर तुमने सिद्ध कर दिया कि तुम्हारा यह प्रिया पुकारना केवल शाब्दिक है, हार्दिक नहीं। हमें देखो, जो वियोग होते ही प्राण छोड़ देते हैं। इस पर वे सन्त कहते हैं, चक्रवाक ने उत्तर देते हुए सारस से कहा कि तुम्हारे अन्तःकरण में प्रीति का कोई अर्थ ही नहीं है; क्योंकि तुमने मिलन का ही सुख जाना है और वियोग होते ही कायरता का परिचय दिया। हमें देखो, जो निरन्तर जीवित रहकर विरह की पीड़ा को झेलकर भी प्रिय की स्मृति में डूबे हुए हैं। फिर प्रश्न उठा कि यह जो भक्तिरस है वह मिलनरस है या विरहरस? तो सन्त ने उसे बड़ा सुन्दर नाम दिया और कहा कि संसार में जैसा मिलन-विरह होता है भक्ति में वैसा नहीं होता। भक्ति में :

हित हरिबंस बिचार मिलन बिरह बिन...
निकट कंत नित रहत मरम तंह जाने सारस॥

कभी-कभी थोड़ी दूरी भी बननी चाहिए, वियोग होना चाहिए; क्योंकि वियोग के द्वारा व्याकुलता, मिलन की आकांक्षा उत्पन्न होती है। इसलिए भक्ति का रस है—मिलन-विरहरस। ऐसे भक्तों के यहां भगवान् और ज्ञान में मिलन हुआ तो फिर मिलन-ही-मिलन है। किन्तु

भक्ति में मिलन और विरह का यह अनोखा क्रम चलता रहता है। कभी मिलन है तो कभी विरह है। इतना ही नहीं, मिलन में विरह की अनुभूति और विरह में मिलन की अनुभूति का भी दिव्य भाव है, पर उसकी चर्चा का यह अवसर नहीं। अतः जनकपुरवासी पहले तो ज्ञान-सम्प्रदाय में दीक्षित थे जहां मिलन-ही-मिलन था, पर जब कन्या का विवाह हो जायेगा तो फिर मिलन-ही-मिलन कैसे रहेगा ! तब तो कन्या को वर के साथ विदा करना ही पड़ेगा, क्योंकि दूल्हा ससुराल में थोड़े ही रहेगा ! उसे तो घर जाना ही होगा। इसलिए यह चर्चा चलने लगी कि विवाह में जितना आनन्द आ रहा है, जब ये दूल्हा महोदय सीता को लेकर चले जायेंगे तो फिर हम लोगों को मानसिक कष्ट भी उतना ही होगा। इस पर एक चतुर सखी आश्वासन देती है कि घबराओ मत, चले जायेंगे तो कोई सदा के लिए थोड़े ही चले जायेंगे; क्योंकि **बारहिं बार सनेह बस**। अब वे पुराने विरागी महाराज थोड़े ही हैं, अब तो रागी जनक हो गये हैं। कन्या को विदा करने के बाद उनके मन में भी तो वियोग का कष्ट होगा और वे सीता को बुलाने के लिए निमन्त्रण-पत्र भेजेंगे :

बारहिं बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय। १/३१०

महाराज श्री जनक बार-बार श्री सीता को बुलवायेंगे। और जब श्री सीता आ जायेंगी तो हम लोगों को फिर से वही आनन्द मिलेगा।

लैन आइहहिं बन्धु दोउ...। १/३१०

किसी ने कहा कि पता नहीं कौन आयेगा लेने के लिए। यह तो जरूरी नहीं कि हर बार विदाई के समय दूल्हा ही आये, परिवार का कोई भी सदस्य आकर ले जाता है। किन्तु सखी बोली कि नहीं, दूल्हा तो आयेगा ही, दूल्हे का छोटा भाई भी आयेगा। ये भी आये बिना नहीं रहेंगे। तुम्हें कैसे पता है ? इस पर सखी का व्यंग्य है कि जब विवाह होने के पहले बिना निमन्त्रण के दोनों भाई लेने आ गये तो विवाह के बाद कितनी बार आयेंगे, इसकी कल्पना करो। जब इन्हें निमन्त्रण-पत्र नहीं भेजा गया तब भी अकेले नहीं आये। ऐसा कोई विवाह नहीं हुआ जिसमें दूल्हा बरात पहुंचने से पहले ससुराल में आकर टिक जाये। यहां तो बरात जा रही है किन्तु दूल्हा दिखाई

नहीं दे रहा है। और जब जिज्ञासा की जाती है कि दूल्हा कहां है तो पता चलता है कि दूल्हा तो पहले से ही ससुराल में विद्यमान है। यह जो अनोखा नाता है प्रीतिरस का, मिलन-विरहरस का, उसके आधार पर सखी विश्वास और दावे से कहती है कि घबराओ नहीं, श्री रामके साथ श्री लक्ष्मणजी भी आयेंगे। यदि इसे व्यापक अर्थ में कहा जाये तो यों कह सकते हैं कि ज्ञान आ गया तो भक्ति का आगमन हो गया और अगर भक्ति आ गई तो श्री राम तो आते ही हैं, लक्ष्मण भी आ जाते हैं। लक्ष्मण मूर्त्तिमान वैराग्य हैं, भगवान् राम अखण्ड ज्ञान हैं। अगर जीवन में भक्तिदेवी आ गई तो फिर ज्ञान-वैराग्य को निमन्त्रण देने की आवश्यकता नहीं, ये बिना निमन्त्रण के ही आ जाते हैं। इस तरह जनकपुरी और अयोध्या के बीच, महाराज जनक और दशरथ के बीच एक अनोखा नाता बन गया। और इसलिए आनन्द की परा-काष्ठा कब हुई? महाराज श्री दशरथ तो श्री राम के प्रति मन-वचन-कर्म से समर्पित हैं ही। वे तो उन्हें गोद में लेकर, निकट बैठाकर धन्यता का अनुभव करते ही थे, पर श्री सीता के माध्यम से महा-राज श्री जनक के नगर में भगवान् श्री राम का आगमन जोड़ने-वाली कड़ी है। इसके पश्चात् बड़ा सार्थक संकेत आता है और वह यह है कि महाराज श्री जनक के सामने समस्या आ गई कि श्री राम को कहां ठहरायें। बस, अन्तर आ गया। वेदान्त में ठहराने की समस्या तो है नहीं, क्योंकि वेदान्त में तो जब सर्व वही है तो किसको ठहराना और कहां ठहराना, यह प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञान की दृष्टि से यदि प्रश्न किया जाये कि ईश्वर को कहां ठहरायें तो यह प्रश्न ही सार्थक सिद्ध नहीं होता। इसलिए महर्षि वाल्मीकि से भगवान् राम ने पूछा कि मैं कहां रहूं तो वाल्मीकिजी ने उलटकर यही पूछा कि पहले आप तो बता दीजिए कि आप कहां नहीं हैं फिर मैं बता दूंगा कि यहां ठहरिये :

पूंछेहु मोहि कि रहों कहं मैं पूंछत सकुचाउं।
जहं न होहु तहं देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठांउ॥ २/१२७

गोस्वामीजी ने कहा कि महाराज श्री जनक ने जब विश्वामित्र के साथ श्री राम और लक्ष्मण को देखा तो उन्हें चिन्ता हुई कि इन दोनों को कहां ठहराऊं? और ठहराने की इस चिन्ता के सन्दर्भ में गोस्वामीजी

ने बड़ा सार्थक शब्द लिखा । जिसका अभिप्राय है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म तो सर्व-व्यापक है पर जब वह सगुण-साकार ईश्वर हो गया तो यह उसे सर्व-व्यापक के स्थान पर एकदेशीय बनाना है । इन दोनों के सामंजस्य पर आप विचार करके देख लीजिए । जो सर्व-व्यापक है उसे एकदेशीय बनाये बिना क्या जीवन में परिपूर्णता आ पायेगी ? अगर ईश्वर को केवल एकदेशीय मानें तो ईश्वर अपूर्ण हो जायेगा । अत: जो लोग यह आग्रह करते हैं कि ईश्वर केवल इसी स्थान में है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे यह मान लेते हैं कि अन्यत्र नहीं है । और जो यह मान लेगा कि ईश्वर सर्व-व्यापी है तो सर्व-व्यापकता के द्वारा हमारे अन्त:करण में रसानुभूति कैसे होगी ? इसलिए सर्व-व्यापकता में जब तक एकदेशीयता न आये तब तक मनुष्य की तृप्ति नहीं होगी । उदाहरण के लिए मान लीजिए किसी व्यक्ति ने आपको आधा गिलास जल दे दिया, पर इतना-सा जल पीने के बाद भी आपकी प्यास नहीं बुझेगी, किन्तु यदि कोई आपको दिव्य सरोवर के किनारे ले जाकर खड़ा कर दे, जिसमें बड़ा ही स्वच्छ जल लहरा रहा है तो आप आनन्दित हो जायेंगे । क्योंकि यह दिखलाई देने लगा कि अरे, इस सरोवर में तो इतना जल है कि अतृप्ति का प्रश्न ही नहीं है । यह जान लेने पर भी कि इस सरोवर में बहुत जल है तो भी पीते समय अन्ततः आपको गिलास में, चुल्लू में ही लाना पड़ेगा, और कोई उपाय नहीं है । और इसका अभिप्राय है कि ईश्वर को सर्वदेशीय जान लेने के बाद भी, सर्व-व्यापक जान लेने के बाद भी जब तक उसे एकदेशीय नहीं बनायेंगे तब तक तृप्ति नहीं होगी । इसलिए सर्व-व्यापक को ठहराने के लिए भी घर अवश्य बनवाइये, मन्दिर जरूर बनवाइये । इससे अन्तर पड़ जाता है न कि ईश्वर सर्व-व्यापक है तो आपके घर में भी है, सड़क पर भी है, सर्वत्र है । किन्तु आपको सर्वत्र ईश्वर की याद तो नहीं आ पाती । जब आप मन्दिर में जाते हैं तो वहां दर्शन करते ही आपको ईश्वर की स्मृति आ गई । ईश्वर था तो सर्वत्र पर सर्वत्र स्मृति नहीं आई और जीवन में आनन्द का अनुभव नहीं हुआ । जहां जाकर हमको आनन्द का अनुभव हुआ वहीं तो आनन्द है, फिर भले ही ईश्वर एकदेशीय दिखाई दे रहा हो, एक व्यक्ति के रूप में दिखाई दे रहा हो । अत: सर्वदेशीय को एकदेशीय बना लेना यह तृप्ति के लिए आवश्यक है । यही सर्वत्र होता है । वृक्ष विशाल होता

है किन्तु उसका रस सिमटकर आ जाता है फल में। आम का वृक्ष कितना बड़ा होता है, लेकिन अन्त में आम का फल निकलेगा आम के वृक्ष से और खानेवाले को फल चाहिए, वृक्ष नहीं। वृक्ष के बाद उसमें जो नन्हा-सा फल है, वह वृक्ष की तुलना में बहुत छोटा है लेकिन जितना रस सिमटकर फल में आ गया उतना तो वृक्ष में भी नहीं होता। कोई कह सकता है कि भई, बात तो माननी पड़ती है कि वृक्ष से तृप्ति नहीं होती, तृप्ति तो फल से होगी पर फल है तो छोटा। उत्तर में कहा गया कि लगता ही छोटा है क्योंकि जब रस चूस लेंगे तो उसमें जो गुठली है उसी में आम का वृक्ष भी छिपा हुआ है। वह गुठली लगा देंगे तो आम का नया वृक्ष भी निकल आयेगा, घबराइये नहीं। अत: उसकी सर्व-व्यापकता आम के फल में आने पर भी ज्यों-की-त्यों बनी रही, बल्कि अधिक बनी रही। इसका अभिप्राय है कि फल में आपको तृप्ति का रस भी मिला और उसकी विशालता भी बनी रही, और विशालता सिमटकर इतने नन्हे-से फल में आ सकती है इसका भी ज्ञान हो गया। आप गुठली को मुट्ठी में लेने के बाद दावा कर सकते हैं कि हमारी मुट्ठी में तो आम का वृक्ष है और हजारों आम के फल हैं। सुननेवाला शायद इसे असंगत समझे पर जब आप उसे दिखा देंगे कि वह बीज हमारे हाथ में विद्यमान है जो वृक्ष की सृष्टि करता है और गणित करके देख लीजिए कि वृक्ष कितना बड़ा होता है और उसमें कितने फल लगेंगे। आपको लगेगा मेरी मुट्ठी में कितना बड़प्पन समाया हुआ है। इसलिए ज्ञान के द्वारा उसकी व्यापकता जान लेने के बाद भी भक्त के द्वारा जब तक आप उसको एकदेशीय नहीं बनायेंगे, सर्व-व्यापक को जब तक मन्दिर में और अपने घर में नहीं ठहरायेंगे, और जब तक हृदय में स्थान नहीं देंगे तब तक जीवन में परिपूर्णता नहीं आयेगी। इसलिए महर्षि वाल्मीकि को भी पहले यह कहने के बाद कि ईश्वर तो सर्वत्र है, सर्व-व्यापी है, अन्त में भगवान् राम से कहना पड़ा :

सुनहु राम अब कहउं निकेता।
जहां बसहु सिय लखन समेता।। २/१२७/३

यहां भी यही संकेत है कि अकेले राम तो सर्वत्र रहते हैं पर सीताजी और लक्ष्मण के साथ श्री राम सर्वत्र नहीं रहते। ये अकेले राम

और श्री सीताजी एवं श्री लक्ष्मण के साथ राम में एक सांकेतिक तत्त्व है और आगे चलकर इस प्रसंग में रस की एक नई परम्परा, नई कड़ी जुड़ जाती है । निर्गुण-निराकार सर्व-व्यापक जो ब्रह्म है उसमें राग का भी अभाव है और रोष का भी अभाव है । राग का कितना अभाव है इसका पता इसी से चलता है कि संसार में इतने व्यक्ति हैं और सबके हृदय में वह बैठा हुआ है पर हम चाहे रोयें, चाहे हंसें, चाहे दुःखी हों, चाहे रोगग्रस्त हों, चाहे स्वस्थ हों उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इतना विरागी है वह । समाज में इतना अन्याय हो रहा है, इतनी बुराई हो रही है, कोई व्यक्ति किसी पर प्रहार कर रहा है किन्तु ईश्वर अन्तर्यामी के रूप में हृदय में बैठा हुआ है । यदि उसको क्रोध आता तो जो व्यक्ति बुरा कार्य करनेवाला है उसे दण्ड न देता ? अतः ईश्वर न तो राग है और न रोष । यही अयोध्याकाण्ड में कहा गया है :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू । २/२१८/३

किन्तु उस राग-रोषरहित ईश्वर के चिन्तन से हमें लाभ क्या होगा ? उसके चिन्तन से तब लाभ होगा जब राग-रोषरहित ईश्वर की भांति हमारे जीवन में भी राग और रोष का अभाव हो जाये । लेकिन एक बात निश्चित समझ लीजिए कि इस राग-रोष के अभाव से वैयक्तिक कल्याण होगा, सामाजिक कल्याण नहीं होगा । यह हो सकता है कि हम भी विरागी बन जायें, हम भी क्रोधरहित बन जायें और हमारे जीवन में शान्ति का संचार हो जाये । हमारे व्यक्तिगत जीवन में शान्ति का संचार हो जाने के बाद अगर हमारे जीवन में राग और रोष का सर्वथा अभाव हो जायेगा तो उसका परिणाम क्या होगा ? समाज में सम्बन्ध और राग के नाते ही तो दूसरों की सेवा की वृत्ति भी जाग्रत होती है और क्रोध उत्पन्न होने पर ही तो बुराई के विरुद्ध संघर्ष करने की इच्छा जागती है । इसलिए अपने-आपमें भले ही राग और रोष से शून्य ईश्वर महान् हो और उसका चिन्तन करनेवाला भी उसी के समान हो जाये किन्तु हमें तो ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जिसमें राग भी हो और रोष भी, जो विरागी भी हो और रागी भी; जो शान्त भी हो और रोषयुक्त भी । वह तो सेतु ही है न, अतः वह तो दोनों को जोड़ें ही रहेगा । जिसमें दोनों हों,

क्योंकि राग होगा तो हमारे प्रति सम्बन्ध की अनुभूति होगी और रोष होगा तो बुराई को मिटाने का संकल्प आयेगा। अतः भगवान् राम के साथ दोनों रहते हैं—लक्ष्मणजी और सीताजी। और दोनों के दो काम हैं—लक्ष्मणजी का काम है भगवान् राम में रोष पैदा करना और श्री सीताजी का कार्य है उनमें राग उत्पन्न करना।

अपने स्वभाव से श्री राम इतने शान्त हैं कि जब देखिए तुरत ठंडे पड़ जाते हैं। धनुष-यज्ञ के प्रसंग में भगवान् राम नहीं उठे, क्योंकि वे अपने शान्त स्वभाव में, समत्व में स्थित हैं, और सोचने लगे कि ज्ञानी जनक हैं इसलिए उनकी सभा में तो अपने ब्रह्म-स्वभाव में स्थिर रहना चाहिए। अतः ब्रह्म-स्वभाव में ऐसे स्थिर हो गये कि धनुष तोड़ने की कोई प्रेरणा ही उत्पन्न नहीं हो रही है। पुष्प-वाटिका में श्री सीताजी ने भगवान् राम के मन में राग उत्पन्न किया और धनुष-यज्ञ के मण्डप में लक्ष्मणजी ने भगवान् राम में रोष उत्पन्न किया। जब दोनों पूर्ण हो गये तो काम बना। जब राग उत्पन्न हुआ तो श्री सीताजी के प्रति हृदय में प्रीति आ गई। और कर्म करने की प्रेरणा तब आई जब :

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ १/२५३/१
माखे लखनु कुटिल भइं भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥ १/२५१/८

आंखें क्रोध के कारण लाल हो गईं, ओठ फड़कने लगे। यह दृश्य अनोखा था, जहां भगवान् राम परम शान्त भाव से बैठे हुए हैं वहां लक्ष्मणजी की आंखों में क्रोध की लाली है। किन्तु सायंकाल के समय लक्ष्मणजी ने भगवान् राम से कहा कि महाराज, मेरी भविष्यवाणी तो आपने सत्य सिद्ध कर दी पर बहुत विलम्ब से की। प्रातःकाल भगवान् राम ने पूछा था कि लक्ष्मण, जरा देखो सूर्य निकल आया या नहीं ? लक्ष्मणजी ने कहा—हां, एक सूर्य तो निकल आया है पर आपकी भुजा का सूर्य कुछ घंटे बाद निकलनेवाला है और जब तक यह भुजा का सूर्य नहीं निकलेगा तब तक अन्धकार दूर नहीं होगा। अतः उसी की प्रतीक्षा है। इसीलिए लक्ष्मणजी ने भगवान् राम से कहा कि महाराज, सूर्य तो निकला पर बहुत विलम्ब से निकला। प्रभु ने

हंसकर कहा—लक्ष्मण, अगर सूर्य विलम्ब से निकला तो इसका दोष तुम्हीं पर है। क्योंकि सूर्य पहले थोड़े ही निकलता है, पहले तो पूर्व दिशा में लाली आती है तब सूर्य निकलता है। जब तक तुम्हारे क्रोध की लाली प्रकट न हो तब तक मैं कहां प्रकट होनेवाला था। इसलिए तुमने जब प्रेरणा दी तब मुझे ऐसा लगा कि अब तो धनुष तोड़ना ही चाहिए :

माखे लखनु कुटिल भइं भौंहें।
रदपट फरकत नयन रिसौंहें ॥ १/२५१/८

लक्ष्मणजी ने जान-बूझकर कह दिया कि आप नहीं उठते तो मैं ही धनुष को तोड़े देता हूं। तोड़े देता हूं का अभिप्राय, सात्विक अर्थ तो यही है कि वे जानते हैं कि श्री सीता-राम का विवाह तो नित्य है। अतः लक्ष्मणजी ने विवाह के लिए नहीं बल्कि प्रभु को उठाने के लिए ऐसा कहा था। यदि आप इतने शान्त होकर बैठ गये हैं और अपने ब्रह्मत्व में इतने सुरक्षित रहना चाहते हैं कि यहां आने के बाद भी उठने का नाम नहीं लेते तो लगता है कि आप तो वेदान्त के कूटस्थ ब्रह्म हो गये हैं। वेदान्त में ब्रह्म के लिए कूटस्थ शब्द का प्रयोग किया जाता है। कूटस्थ शब्द का अर्थ है एक रूप में चिरस्थायी। आपने देखा होगा कि लुहार के यहां लोहे का एक खण्ड गड़ा होता है और उसकी विशेषता यह है कि लुहार उस पर किसी भी वस्तु को रखकर कितना भी हथौड़ा क्यों न चलाये, वह वस्तु घूमेगी, लुहार का हथौड़ा घूमेगा लेकिन वह लौह-खण्ड ज्यों-का-त्यों स्थिर रहेगा। वेदान्त का ईश्वर भी बस लुहार के उस लौह-पिण्ड की भांति अटल ब्रह्म है। बोले महाराज, इतने प्रयास के बाद तो आपको सगुण बनाया गया और आप फिर ज्यों-के-त्यों अचल बनकर बैठ गये। इस पर उन्होंने सारे संसार को चल बना दिया। जब पूरी पृथ्वी कांपने लगी, सारा ब्रह्माण्ड कांपने लगा तो लक्ष्मणजी ने भगवान् राम की ओर देखा। महाराज, अब तो दो ही अचल हैं—या तो आप अथवा धनुष। अब कृपा करके इस जड़ की अचलता को नष्ट करने के लिए आप ही तनिक चल बनना स्वीकार कर लीजिए। और तुरत विश्वामित्रजी ने कह दिया :

उठहु राम भंजहु भव चापा। १/२५३/६

इससे लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी देर तक गुरुजी क्या कर रहे थे। अगर उनके कहने की ही देर थी तो कुछ और पहले कह देते—उठो राम। किन्तु नहीं, गोस्वामीजी ने आगे कहा :

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। १/२५३/५

विश्वामित्रजी उचित अवसर, उचित काल की प्रतीक्षा में थे। तो क्या उन्होंने पंचांग मंगवाकर देखा कि मुहूर्त्त ठीक आ गया या नहीं? नहीं, उन्होंने ऐसा नहीं किया। आप जानते हैं लक्ष्मणजी कौन हैं? लक्ष्मणजी हैं मूर्त्तिमान शेष भगवान् के अवतार, मूर्त्तिमान काल के अवतार। अतः लक्ष्मणजी के बोलते ही विश्वामित्रजी को लगा कि काल बोल रहा है। इसलिए उन्होंने कहा कि बस, अब उठ जाओ भई! इस समय काल की ध्वनि हो रही है, अब विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः भगवान् जो वेदान्त का राग-रोषरहित ईश्वर है उसमें लोक-कल्याण के लिए राग और रोष की सृष्टि की आवश्यकता है और राग और रोष की सृष्टि करने के लिए ही उनके साथ श्री सीताजी और लक्ष्मण विद्यमान हैं। इसलिए जब भगवान् राम शान्त होने लगते हैं तो लक्ष्मणजी तुरत कह देते हैं :

सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा। ५/५०/३

अरे, आप क्रोध कीजिए न, क्रोध करके समुद्र को सुखा दीजिए। इस प्रकार लक्ष्मणजी भगवान् राम को उत्तेजित करते हैं। कोई तो ऐसा होना चाहिए जो ईश्वर को उत्तेजित कर सके, जो उसके अन्तःकरण में भी प्रीति और ममता को जन्म दे सके। संसार में यदि निर्मम ईश्वर रहेगा तो वह हमारे काम का नहीं होगा, वह अपने में सुखी होगा। जो निर्मम व्यक्ति होते हैं वे अपने में बड़े सुखी होते हैं। न किसी से ममता और न दुःख। किन्तु जिसमें ममता होती है, उस ममता से प्रेरित होकर ही तो उसके मन में दूसरे के कष्ट दूर करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इसलिए वाल्मीकिजी ने भगवान् राम से कह दिया :

सुनहु राम अब कहउं निकेता।
जहां बसहु सिय लखन समेता॥ २/१२७/३

आज भगवान् राम लक्ष्मणजी को लेकर आ गये हैं, सीताजी जनकपुर में ही हैं। अब जनक के सामने समस्या उठ खड़ी हुई कि इस दिव्य अतिथि को ठहरायें कहां ! जो सर्व-व्यापक ब्रह्म को माननेवाला महान् ज्ञानी था आज इन्हें देखकर समझने लगा। विश्वामित्रजी ने तो कहा भी कि ठहरने के लिए आम का बगीचा कैसा रहेगा ? बोले, बिलकुल ठीक महाराज।

दखि अनूप एक अंबराई।
सब सुपास सब भांति सुहाई॥
कौसिक कहेउ मोर मनु माना।
इहां रहिअ रघुबीर सुजाना॥ १/२१३/५

महाराज, आपको पसन्द आ गया तो फिर मेरे पसन्द आने का प्रश्न ही नहीं उठता। और इसका तात्पर्य क्या है ? यदि कोई भगवान् से पूछे कि आपको कौन-सा स्थान रहने के लिए पसन्द आता है तो भगवान् कहते हैं कि जिसको सन्त पसन्द कर ले वही मुझे पसन्द है। विश्वामित्र-जैसा सन्त जिसके लिए कह दे कि यह स्थान मेरे ठहरने योग्य है, मैं वहीं ठहर जाता हूं। भगवान् राम अमराई में ठहर गये, पर जब जनक आये और उन्होंने श्री राम और लक्ष्मण को देखा तो सोचने लगे कि ऐसे दिव्य अतिथि आये हुए हैं इन्हें कहां ठहरायें। इस अतिथि को देखकर लगता है कि इनके ठहराने के लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा, यह ईश्वर कहां रहेगा ? ये लक्ष्मणजी-जैसे सुकुमार अतिथि कहां रहेंगे ? फिर उनका ध्यान गया जनकपुर में बने हुए एक-से-एक सुन्दर भवनों, सुन्दर-से-सुन्दर महलों की ओर किन्तु गोस्वामी-जी ने यहां सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया। महाराज जनक ने भगवान् राम को अपने भवन में नहीं ठहराया, अपने महल में नहीं ठहराया। फिर किसके महल में ठहराया ? गोस्वामीजी कहते हैं :

सुंदर सदनु सुखद सब काला। १/२१६/७

एक तो भवन सुन्दर हो और सुन्दर के साथ-साथ वह ऐसा हो जिसमें प्रत्येक ऋतु में आनन्द का अनुभव हो। यह एक बड़ी समस्या होती है। कई भवन ऐसे होते हैं जो एक ऋतु में अच्छे लगते हैं किन्तु दूसरी ऋतु में दुःखदायी हो जाते हैं। लेकिन भवन ऐसा होना चाहिए जो

'सुखद सब काला' हो और सुन्दर भी हो। गोस्वामीजी कहते हैं कि ऐसा भवन जनकजी ने लिया :

सुंदर सदनु सुखद सब काला।
तहां बासु लै दीन्ह भुआला॥ १/२१६/७

'लै दीन्ह भुआला' का अभिप्राय क्या है, किससे लिया ? तो गोस्वामीजी यहां 'सुन्दर सदन' शब्दों का प्रयोग करते हैं और यह सुन्दर सदन इस अर्थ में है कि भवन सुन्दर था और जैसे भवनों के अलग-अलग नाम होते हैं वैसे ही नाम की दृष्टि से भी यह सुन्दर सदन था। अतः भगवान् राम सुन्दर सदन में ठहराये गये। यह सुन्दर सदन किसका था ? गोस्वामीजी ने कहा :

सिय निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति। १/२१३

श्री सीताजी का निवास-स्थान ही सुन्दर सदन है। इसका तात्पर्य यह है, कि जहां भक्तिदेवी हैं वहीं सौन्दर्य है, और वहीं सार्वकालिक सुख है। भक्ति के बिना सौन्दर्य नहीं, भक्ति के बिना शाश्वत सुख नहीं। जनकजी को अन्त में ऐसा लगा कि जानकी तो मेरे घर में आ जाये और उनके भवन में श्री राम-लक्ष्मण को ठहरा दिया जाये। सन्त-मण्डली-सहित भगवान् राम और लक्ष्मण को श्री सीताजी का भवन लेकर ठहरा दिया गया। इसका अभिप्राय है कि ईश्वर वहीं निवास करता है, सन्त वहीं निवास करते हैं जहां भक्ति की परिपूर्णता है। इसके बाद जो अनोखी बात, जो अद्भुत मिलन होता है, जहां भक्तिदेवी के द्वारा श्री राम में राग की सृष्टि की गई वह कौन-सा प्रसंग है ? वह पुष्पवाटिका-प्रसंग है और उस पुष्पवाटिका के प्रसंग में भी भगवान् राम का सेतु-चरित्र ही दिखाई देता है। सेतु-चरित्र का तात्पर्य क्या है ? एक अनोखी बात आप साहित्य में पाते हैं। साहित्य में शान्त रस और श्रृंगार रस परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। यह बात समझ में आनेवाली भी है, दिखाई भी यही देता है कि जहां शान्त रस की चर्चा होगी वहां श्रृंगार की बात नहीं आयेगी और जहां श्रृंगार रस का वर्णन है वहां पर शान्त रस कैसा ! शान्त रस अद्वैत रस है और श्रृंगार रस द्वैत रस है। इसीलिए साहित्य में भी दो पक्ष हैं। कुछ लोग मानते हैं कि शान्त रस सभी रसों में श्रेष्ठ है और कुछ

लोग यह मानते हैं कि रसराज श्रृंगार है। इन दोनों के पक्षधर कवि भी हुए हैं। अनेक काव्य ऐसे हैं जिनमें शान्त रस की प्रधानता है और अनेक ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें श्रृंगार रस की प्रधानता है, इसलिए शान्त रस या श्रृंगार रस में से किसे स्वीकार करें। यदि पुष्पवाटिका-प्रसंग को आप पढ़ें तो गोस्वामीजी ने एक अनोखी बात सम्भव करके दिखा दी जो साहित्य में असम्भव थी। पुष्पवाटिका में शान्त रस और श्रृंगार रस का समन्वय है। पृष्ठभूमि है शान्त रस की और आगे चलकर है श्रृंगार रस, ऐसा कभी देखा नहीं गया। गोस्वामीजी कहते हैं :

समय जानि गुर आयसु पाई।
लेन प्रसून चले दोउ भाई।। १/२२६/२

गुरु की आज्ञा से पूजन के लिए फूल लेने जा रहे हैं। यहां शान्त रस की पराकाष्ठा है और मध्य में श्रृंगार रस की चरम सीमा। अन्त में गोस्वामीजी कहते हैं :

हृदयं सराहत सीय लोनाई। १/२३६/१

यहां श्रृंगार रस है। हृदय में श्री सीताजी की सुन्दरता का चिन्तन कर रहे हैं, और—

गुर समीप गवने दोउ भाई।। १/२३६/१

फिर श्रृंगार शान्त रस की सीमा में प्रवेश कर रहा है। और वहां जाकर :

राम कहा सबु कौसिक पाहीं। १/२३६/२

आज तक आपने ऐसा श्रृंगार रस नहीं देखा होगा जिसका वर्णन गुरु के सामने किया जा सके। कोई अपने से बड़ों के सामने जाकर अपने अन्तःकरण के श्रृंगार की चर्चा नहीं करेगा, पर गोस्वामीजी ने शान्त रस और श्रृंगार रस को मिलाकर एक अद्भुत रस की सृष्टि की। भगवान् राम एक ओर तो शान्त रस के प्रतीक के रूप में गुरु विश्वामित्र के आदेश से जाते हैं और उनके समक्ष अपने हृदय की सारी भावनाओं को प्रकट कर देते हैं, और दूसरी ओर भगवान्

श्री राम के अन्तःकरण में जिस दिव्य राग और श्रृंगार का उदय हुआ वह भी पुष्पवाटिका का एक अनोखा प्रसंग है। गोस्वामीजी को इन दोनों का मिलन अभीष्ट है अतः उनके सन्दर्भ में कहें तो यों कह सकते हैं—शंकरजी कैलास पर्वत पर बैठे हुए हैं, उन्होंने गोस्वामीजी से पूछा कि शंकरजी कैसे लगते हैं? गोस्वामीजी ने कहा :

बैठे सोह कामरिपु कैसें।
धरें सरीरु सान्तरसु जैसें॥ १/१०६/१

शंकरजी ऐसे लग रहे हैं मानो मूर्तिमान शान्त रस हो। भगवान् राम और श्री भरतजी का मिलन हुआ तो तुलसीदास से पूछा गया कि श्री राम कैसे प्रतीत हो रहे हैं, भरत कैसे लग रहे हैं? गोस्वामीजी ने कहा :

जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥ ७/४/ छं० १

भगवान् राम मानो मूर्त्तिमान श्रृंगार हैं। शंकर और विष्णु का विरोध बहुत प्रसिद्ध माना जाता था पर भगवान् राम के सन्दर्भ में गोस्वामीजी का अभिप्राय क्या है? अगर भगवान् राम और विष्णु एक-दूसरे के मिलनेवाले हैं, एक-दूसरे से प्रीति करनेवाले हैं तो शान्त रस और श्रृंगार रस को मिलाकर दोनों को एकत्र कर देना। क्यों है ऐसा, इसकी चर्चा तो हम यहां नहीं कर पायेंगे। शान्त रस की पृष्ठभूमि में गोस्वामीजी ने श्रृंगार रस क्यों रखा? इसके द्वारा गोस्वामीजी ने बहुत बड़ी बात कह दी और इसका अभिप्राय संक्षेप में कह देता हूं। अभाव में रस की जो अनुभूति होती है उसमें वस्तु की विशेषता का बोध नहीं होता। मान लीजिए अगर आपको तीव्र भूख लगी हुई है और तीव्र भूख में आपको कोई वस्तु स्वादिष्ट लगी तो यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि वास्तव में भोजन स्वादिष्ट है या आपकी भूख उसको स्वादिष्ट बना रही है। वस्तुतः संसार का जो श्रृंगार है वह अभावमूलक श्रृंगार है, मन में अभाव की अनुभूति हो रही है और श्रृंगार में रस का बोध हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि हमारा भूखा-प्यासा मन जब इस श्रृंगार को पाता है तो उसमें डूब जाता है कि बड़ा आनन्द है। श्रृंगार का यह रस हमारे भूखे और प्यासे मन का आनन्द है या श्रृंगार का आनन्द है? गोस्वामीजी

ने रामचरितमानस में बताया कि पूर्ण के मन में भी यदि प्यास आ जाये, अर्थात् पेट भरा होने पर भी यदि भोजन सामने आने पर मुंह में पानी आ जाये, लोभ आ जाये तो समझ लेना चाहिए कि भोजन स्वादिष्ट बना है। अतः श्री राम पूर्णकाम ईश्वर हैं। ईश्वर में शृंगार के उदय का अभिप्राय क्या है? हम लोगों के मन में जैसे अभाव में शृंगार का उदय होता है वैसा उदय यहां पर नहीं है। तो फिर? पूर्ण ईश्वर, शान्त रस पूर्णता का प्रतीक है। मानो गोस्वामीजी ने कह दिया कि वह जो पूर्ण ईश्वर है वह शृंगार रस की ओर बढ़ा। किसी ने तुलसीदासजी से पूछा कि जिस वाटिका में श्री सीता और श्री राम का मानसिक मिलन हुआ था वह वाटिका कैसी है, जरा बताइये तो। गोस्वामीजी ने थोड़ा-सा वर्णन कर दिया। जिज्ञासु ने कहा कि महाराज कुछ और तो कहिए। गोस्वामीजी ने कहा कि बस, इतना और कह देता हूं :

बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बन्धु समेत। १/२२७

भगवान् राम और लक्ष्मण बाग देखकर बड़े प्रसन्न हुए। आप कहना क्या चाहते हैं? तुलसीदासजी ने कहा :

परम रम्य आरामु यहु जो रामहि सुख देत ।। १/१२७

सबको सुख देनेवाले राम जहां आकर सुख का अनुभव करें, समझ लो कि वह वाटिका कितनी सुन्दर होगी! अब मैं उसका और क्या वर्णन करूं! श्री सीताजी का सौन्दर्य कैसा है? जिस सौन्दर्य को देखकर पूर्ण के मन में भी प्यास उत्पन्न हो गई वह सौन्दर्य कितना अनुपम होगा और ब्रह्म के अन्तःकरण में राग उत्पन्न होने से जीव का कैसे कल्याण होता है, इसकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

५

सिय सोभा हियं बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि ॥ १/२३०
तात जनक तनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखीं लै आईं।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं ॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥ १/२३०/१

वहां जिस विलक्षण रस की सृष्टि की जा रही है हम उसके स्वरूप को हृदयंगम करें। जैसा कि पिछले प्रवचन के अन्त में कहा गया था शृंगार रस और शान्त रस एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और विरोधी हैं, अतः स्वाभाविक है कि जहां पर शान्त रस होगा वहां शृंगार रस की अपेक्षा नहीं, और शृंगार में शान्त रस की उपस्थिति व्यवधान बनेगी। लेकिन उस वाटिका में जिस सेतु की सृष्टि की गई वह धर्मसेतु के स्थान पर भावसेतु की सृष्टि करनेवाला है और बड़ा विलक्षण है। उस वाटिका का सारा शृंगार शान्त रस की पृष्ठभूमि में है और इस शृंगार रस की समाप्ति भी शान्त रस में ही होती है। साथ ही एक विलक्षणता यह भी है कि शृंगार रस में किसी तृतीय की उपस्थिति बाधक होती है, किन्तु श्री राम उस वाटिका में अकेले नहीं जाते, उनके साथ लक्ष्मण हैं। लक्ष्मण उनके छोटे भाई हैं और छोटे भाई की उपस्थिति में भी शृंगार रस का पूर्ण परिपाक होना असम्भव है। लेकिन ऊपर जो पंक्तियां उद्धृत की गईं उनमें विलक्षणता यही है कि भगवान् राम उस वाटिका में श्री सीताजी का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाते हैं और अपने अन्तःकरण के आकर्षण का वर्णन करने के लिए जब वे श्रोता खोजते हैं तो

इसके लिए उनको लक्ष्मणजी उपयुक्त प्रतीत होते हैं। बड़ी विचित्र-सी बात है ! अन्तर्मन में राग उत्पन्न हो, श्रृंगार की भावना उत्पन्न हो और उसकी चर्चा छोटे भाई से की जाये, ऐसा तो विश्व में कहीं नहीं देखा जाता। यह बड़ा अनुचित और अटपटा-सा प्रतीत होता है। श्रृंगार रस में किसी की उपस्थिति ही बाधक है, और श्रृंगार रस की चर्चा की भी जायेगी तो बराबरीवाले व्यक्ति से की जायेगी, अपने मित्र से की जायेगी। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु ने उस वाटिका में अपने अन्तर्मन के राग की चर्चा लक्ष्मण से की और वहां से लौटकर आये तो गुरुजी से अपने मन की दशा का वर्णन करने लगे। लेकिन न तो गुरुजनों के और न अपने से छोटों के समक्ष ही श्रृंगार की चर्चा की जाती है, किन्तु उस वाटिका में यह विचित्रता विद्यमान है। अतः इन विलक्षणताओं को ध्यान में रखकर वाटिका-प्रसंग पर विचार करें कि वस्तुतः उसकी अवतारणा किस उद्देश्य से की गई। ऊपर उद्धृत पंक्तियों में भगवान् श्री राम लक्ष्मण से कहते हैं कि लक्ष्मण, यही जनक की पुत्री हैं जो अपने दिव्य प्रकाश के द्वारा सारी पुष्पवाटिका को प्रकाशित कर रही हैं और जिनका अनुपम सौन्दर्य देखकर मेरे मन में क्षोभ का उदय हो गया है। मेरी ऐसी प्रकृति, ऐसा स्वभाव नहीं है किन्तु मैं आज अपने मन में बदलाव पाता हूं, अपने मन में क्षोभ का उदय पाता हूं। मैं समझ नहीं पाता कि इसका क्या कारण हो सकता है। अतः कहा जा सकता है कि उस वाटिका में भगवान् राम के विक्षुब्ध मन का वर्णन है। पिछले प्रवचन में इसकी जो व्याख्या की गई है उस सन्दर्भ में जरा इस पर विचार कीजिए। वह यह है कि ईश्वर स्वयं क्षोभरहित है, उसमें क्षोभ का सर्वथा अभाव है, किन्तु यह क्षोभ हम लोगों के जीवन में प्रति क्षण दिखाई देता है। इसका क्या तात्पर्य है कि विक्षुब्ध ईश्वर को उस वाटिका में क्षुब्ध के रूप में दिखाने की चेष्टा की गई ? वस्तुतः जो विक्षुब्ध किन्तु क्षोभरहित ईश्वर है और जिसका वर्णन परम शान्त के रूप में किया गया इसीलिए गोस्वामीजी आगे चलकर धनुष-यज्ञ के प्रसंग में भी इसी विरोधाभास को लेते हैं। जब जनकपुर-वासी स्त्रियों ने भगवान् राम को देखा तो गोस्वामीजी ने कहा कि उन्हें ऐसा लगा मानो श्री राम मूर्त्तिमान श्रृंगार रस हैं :

नारि बिलोकहिं हरषि हियं निज निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ।। १/२४१

यह तो है जनकपुरवासी स्त्रियों की दृष्टि, पर धनुष-यज्ञ के उस मण्डप में अनेक योगी बैठे हुए हैं, और श्री राम कैसे प्रतीत होते हैं ? गोस्वामी जी ठीक फिर वही विरोधाभास की बात वहां पर भी लिखते हैं :

जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा ।
सान्त सुद्ध सम सहज प्रकासा ।। १/२४१/४

जब योगियों ने श्री राम को देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि वे शान्त हैं, शुद्ध हैं और समत्व में स्थित हैं। यहां प्रश्न उठता है कि दोनों में वस्तुतः श्री राम की वास्तविक स्थिति कौन-सी है और कौन-सी स्थिति अभीष्ट है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार करके देखें तो ईश्वर और ब्रह्म का जो वर्णन किया गया है उसमें क्षोभ के अभाव का ही वर्णन किया गया है । वह क्षोभरहित है, शान्त है, शुद्ध है, सम है, यही उसकी प्रकृति है। यह प्रस्तुत प्रसंग में है और अयोध्याकाण्ड में भी इसी बात को दोहरा दिया गया :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू ।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ।। २/२१८/३

यह जो विक्षुब्ध किन्तु क्षोभरहित ईश्वर है, जिसे योगी शान्त, शुद्ध और सम के रूप में देखते हैं, क्या सचमुच लोक-कल्याण के लिए उसका यही लोक-रूप अभीष्ट है ? रामचरितमानस में इसका नकारात्मक उत्तर दिया गया है। रामचरितमानस की मान्यता है कि ईश्वर जब समत्व में स्थित होगा तो स्वयं उसके लिए तो यह स्थिति सर्वश्रेष्ठ है, और ईश्वर ही क्यों संसार में कोई भी व्यक्ति यदि समत्व में स्थित हो गया तो वह स्वाभाविक रूप से जय-पराजय में दुःख-सुख की वृत्ति से ऊपर उठ गया। यह तो व्यक्तिगत उत्थान की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। किन्तु ईश्वर का यह समत्व जो ईश्वर के लिए उसकी महिमा का परिचायक है, क्या सचमुच लोक-कल्याण के लिए, संसार के लिए उपादेय है ? इसके लिए रामचरितमानस में भगवान् राम और भगवान शंकर के प्रसंग में एक ही शब्द का प्रयोग

किया गया है। भगवान् शंकर भी समाधि में हैं और समाधि का अर्थ भी यही है कि अपने-आप अरूप में स्थित हैं, समत्व में स्थित हैं। पर वहां संकेत दूसरे ढंग से आता है। यहां श्री सीताजी का सौन्दर्य देखकर भगवान् राम के मन में क्षोभ का वर्णन किया गया और वहां श्री सीताजी के स्थान पर पार्वतीजी का नाम लिया जा सकता था किन्तु 'कुमारसम्भव' में तो पार्वतीजी के आगमन का वर्णन है जबकि रामचरितमानस में कहा गया कि काम भगवान् शंकर पर आक्रमण करता है और काम का बाण जब भगवान् शंकर के हृदय पर लगा तो गोस्वामीजी ने बड़े सांकेतिक शब्द का प्रयोग किया—**छाड़े बिषम बिसिख**। काम के बाण का नाम है विषम बाण—**प्रगटेउ बिषमबान झषकेतु**। विषम बाणवाला अर्थात् उसके पांच बाण हैं और पांच की संख्या विषम होने के कारण उसे विषम बाणवाला कहते हैं। यों भी अन्त:करण में जब काम का प्रहार होगा तो व्यक्ति समत्व में नहीं रह पायेगा, उसके अन्त:करण में विषमता का उदय होगा। अत: भगवान् शंकर तो बैठे हुए हैं समता में और उन पर आक्रमण करने के लिए जो आया है वह विषम बाणवाला है और उस विषम बाणवाले काम ने भगवान् शंकर के हृदय पर बाण का प्रहार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि शंकरजी का जो नेत्र बन्द था वह खुल गया। भगवान् राम ने लक्ष्मणजी को अपने मन की स्थिति बताते हुए जिस शब्द का प्रयोग किया था उसी का प्रयोग यहां गोस्वामीजी शंकरजी की मन:स्थिति के लिए करते हैं। वह शब्द है—**भयउ ईस मन छोभु बिसेषी**। भगवान् राम कहते हैं :

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा।। १/२३०/३

और शंकरजी के लिए कहा गया :

भयउ ईस मन छोभु बिसेषी।
नयन उघारि सकल दिसि देखी।। १/८६/४

शंकरजी सचमुच समत्व में थे या नहीं? क्योंकि अब तो विषमता आ गई। विषमता का अभिप्राय है कि नेत्र खोलकर देखा तो क्रोध का भी उदय हो गया। अभी तक दृष्टि अन्तर्मुखी थी इसलिए क्रोध भी नहीं था। ठीक भी तो है, आप ध्यान में, समाधि में चले जाइये,

अन्तर्मुख हो जाइये तो क्रोध आने का कोई प्रश्न नहीं है, काम आने का कोई प्रश्न ही नहीं है। पहले काम के द्वारा बाण के प्रहार का अभिप्राय है कि उनके अन्तर्मन में काम का उदय हो गया। काम के उदय के पश्चात् उन्होंने सोचा कि मेरे मन में यह अन्तर क्यों आया और नेत्र खोलकर चारों ओर कारण की खोज करने लगे तो उनको आम के वृक्ष के पत्तों की आड़ में काम दिखाई पड़ गया। उसे देखते ही भगवान् शंकर को क्रोध आ गया। इस प्रसंग में 'कुमारसम्भव' में भी कहा गया है कि देवताओं ने जब देखा कि शंकरजी क्रोध में भर गये हैं तो वे घबरा गये और उन्होंने आकाश से कहा कि 'क्रोधं प्रभु संहर संहरेति'—महाराज, शान्त हो जाइये, शान्त हो जाइये। लेकिन शंकरजी ने एक नहीं सुनी। श्री रामचरितमानस में भी यही आया है कि शंकरजी ने उसे क्षमा नहीं किया :

भयउ ईस मन छोभु बिसेषी।
नयन उघारि सकल दिसि देखी।।
सौरभ पल्लव मदनु बिलोका।
भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका।।
तब सिवं तीसर नयन उघारा।
चितवत कामु भयउ जरि छारा।। १/८६/४

भगवान् शंकर ने काम को जला दिया। इसका अभिप्राय है कि क्रोध को भी स्वीकार कर लिया। अतः समाधिस्थ शंकर महिमामय हैं या जिनके मन में क्षोभ हुआ और जिन्होंने क्रोध में आकर काम को जला दिया वे महिमामय हैं? अगर दार्शनिक दृष्टि से, महत्त्व की दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि जो परम प्रशान्त शंकर हैं, जो सर्वथा आत्मलीन शंकर हैं, जो अपनी दिव्य समाधि में डूबे हुए शंकर हैं वही तो उनका वास्तविक स्वरूप है। इसलिए सर्वश्रेष्ठ रूप तो यही है। फिर प्रश्न उठता है कि शंकरजी यदि अपनी समाधि में डूबे हुए हैं तो उन्हें विषमता में लाने और क्षुब्ध बनाने की क्या आवश्यकता है? और इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर रामचरितमानस में दिया गया और वह उत्तर भगवान् शंकर और भगवान् राम दोनों के प्रसंग में बिलकुल एक है, भगवान् राम भी पूर्ण समत्व में स्थित हैं, उनका मन भी क्षोभरहित है और यह क्षोभरहित स्थिति उनके लिए तो अच्छी है पर संसारके लिए

नहीं। क्योंकि शंकरजीवाले प्रसंग में आप पढ़ते हैं कि उनकी समाधि का लाभ या तो स्वयं शंकरजी को मिल रहा है जो अपने आनन्द में डूबे हुए हैं या फिर उनकी समाधि का सबसे अधिक लाभ उठा रहा है तारकासुर नाम का महान् दैत्य। बड़ी विचित्र-सी बात है कि शिव को तो आनन्द आ रहा है किन्तु शंकरजी की समाधि से सबसे प्रसन्न रहता है तारकासुर। वह यही चाहता है कि ये समाधि में डूबे रहें तो अच्छा है। क्योंकि तारकासुर ने तपस्या की जिसके फलस्वरूप ब्रह्मा वरदान देने के लिए आये। उन्होंने पूछा कि क्या चाहते हो ? तारकासुर ने कहा कि महाराज, मेरी मृत्यु कभी न हो। ब्रह्मा ने कहा यह तो असम्भव है किन्तु दैत्य तो अपने को सर्वदा बुद्धिमान समझते हैं, इसलिए उसने सोचा कि मैं इतनी चतुराई से वरदान मांगूं कि जिससे ब्रह्मा चाहे दें या न दें पर मैं अमर हो जाऊं। इसलिए उसने कहा कि आप मुझे यह वरदान दीजिए कि शंकरजी के विवाह के बाद उन्हें अपनी पत्नी से जो पुत्र प्राप्त हो उसी के हाथों मेरी मृत्यु हो—पुराणों में ऐसा वर्णन आता है कि ये लोग तो संकल्प के द्वारा भी सृष्टि बना सकते थे—इसलिए उसने यह भी कह दिया कि संकल्पज पुत्र नहीं बल्कि विवाह के पश्चात् पत्नी के माध्यम से शंकर को जो पुत्र उत्पन्न हो, मैं उसी के हाथों मरूं। तारकासुर का तर्क था कि विवाह स्वयं अपूर्णता का लक्षण है। इसका अर्थ है कि पुरुष और स्त्री में अपूर्णता का अनुभव है, दोनों में कुछ अभाव है और उस अभाव की पूर्त्ति के लिए दोनों विवाह करते हैं। यह बड़ा दार्शनिक भेद है। दैत्य लोग भी कुछ कम दार्शनिक नहीं होते थे, वे दर्शन का दुरुपयोग करते थे यह और बात है, लेकिन होते दार्शनिक ही थे। अर्थात् दार्शनिक होना और बात है और उसका दुरुपयोग करना और बात है। इसलिए उसने निर्णय किया कि शंकर तो पूर्णकाम हैं और जब उनके मन में किसी अभाव की अनुभूति होगी तभी तो वे विवाह करेंगे। इसलिए पूर्ण शंकर को न तो विवाह की इच्छा होगी, न पुत्र उत्पन्न होगा और न मैं मरूंगा। बस, अपना लम्बा चौड़ा गणित फैलाकर उसने समझ लिया कि मैं तो हो गया अमर ! इसका अर्थ यह हुआ कि शंकरजी की ऊर्ध्व स्थिति शक्ति दे रही है तारकासुर को। इससे बड़ी जटिल स्थिति खड़ी हो जाती है। अब यदि शंकर को समाधि में, अन्तर्मुख रहने दें तो सारे संसार की स्थिति क्या हो जायेगी :

तारकु असुर भयउ तेहि काला।
भुज प्रताप बल तेज बिसाला॥
तेहिं सब लोक लोकपति जीते।
भए देव सुख संपति रीते॥
अजर अमर सो जीति न जाई।
हारे सुर करि बिबिध लराई॥ १/८१/५

जब देवता लड़ते-लड़ते थक गये और किसी प्रकार से तारकासुर को हराने में समर्थ नहीं हो पाये तो ब्रह्मा से जाकर पूछा। ब्रह्मा ने यह रहस्य प्रकट किया कि इसने वरदान मांग लिया है :

संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ। १/८२

उनसे पूछा गया कि अब क्या किया जाये? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि अब शंकरजी को भीतर से बाहर लायें। बड़ी विचित्र बात है। जीव यदि शान्ति पाना चाहता है तो ज्ञानी कहते हैं कि अन्तर्मुख बनो। भक्तों ने इसे तनिक उलटकर कह दिया कि भई, ईश्वर को पाने के लिए या तो हम अन्तर्मुख बनें या फिर ईश्वर हम लोगों पर कृपा करके स्वयं थोड़ा बहिर्मुख बन जाये, वही जरा बहिर्मुखता स्वीकार कर ले। अतः या तो हम स्वयं भीतर जायें या ईश्वर को भीतर से बाहर लायें। ये दोनों प्रक्रिया हैं। ज्ञान की प्रक्रिया है स्वयं भीतर चले जाना और भक्ति की प्रक्रिया है—भगवान् यदि भीतर हैं, आत्मलीन हैं, स्वसुख में निमग्न हैं तो उनको बाहर निकालने की चेष्टा करना। इसलिए रामचरितमानस में वर्णन आता है कि अन्त में ब्रह्मा ने देवताओं से बड़ी अनोखी बात कही। शंकर हैं श्री राम के भक्त और काम के शत्रु। उनका नाम ही कामारि है। बातें तो बहुत-सी हैं जो मन में उठती हैं, किन्तु मैं सोच ही नहीं पाता कि कौन-सी बात कहूं और कौन सी न कहूं। कितनी ही बातें गोस्वामीजी ने बड़े अनोखे ढंग से लिखी हैं। गोस्वामीजी ने वहां बड़ा मधुर संकेत किया है कि यह बात भगवान् राम को भी प्रिय नहीं है। क्योंकि पार्वती का जन्म हो चुका है और पार्वती शिव को पाना चाहती हैं। पार्वतीजी पूर्वजन्म में सती थीं और सती का त्याग भगवान् शंकर ने श्री राम के कारण ही किया था। अतः भगवान् राम को ऐसा लगता है कि यह

वियोग की स्थिति समाप्त होनी चाहिए और मिलन होना चाहिए। अत: वे शंकरजी के सामने प्रकट हो गये। शंकरजी नेत्र मूंदे हुए थे। नेत्र मूंदने का अभिप्राय है कि यदि नेत्र नहीं मूंदेंगे तो बाहर संसार दिखाई देगा और नेत्र मूंदेंगे तो ईश्वर दिखाई देगा, इसलिए बाहर मत देखो, भीतर देखो। श्री राम आकर खड़े हो गये। और इसका अर्थ है कि अब तो आंख खोलिये, अब केवल भीतर ही मैं नहीं हूं, बाहर भी हूं। फलत: जब शंकरजी ने देखा कि श्री राम पुकार रहे हैं तो नेत्र खोलकर उन्होंने बाहर की ओर देखा। देखने का तात्पर्य है कि समाधि में जिस निराकार-निर्गुण ब्रह्म में डूबे हुए थे अब वही सगुण-साकार के रूप में आंखों के सामने है। जब तक निराकार है तब तक भीतर है जब साकार है तो भीतर क्यों हो, निषेध क्यों हो ? फिर प्रत्यक्ष रूप से आंखों के सामने भी वही दिखाई दे रहा है। अत: तुरत भगवान् राम के चरणों में नत हुए भगवान् शंकर। भगवान् राम ने कहा कि मैं तो आज आपसे कुछ मांगने के लिए आया हूं। भगवान् शंकर ने कहा कि महाराज, आप तो आदेश दीजिए। भगवान् राम ने कहा कि सांसारिक लोग हमारे आपके तीन नाते मानते हैं—कुछ लोग यह मानते हैं कि आप मेरे स्वामी हैं और कुछ लोग मानते हैं कि मैं आपका स्वामी हूं किन्तु कुछ लोग दोनों का समन्वय करके मानते हैं कि हम दोनों एक-दूसरे के मित्र हैं। अगर आप मेरे स्वामी हैं—मैं तो अपनी ओर से आपको स्वामी ही मानता हूं—इसलिए पहली बात आपसे मैं यह कहूंगा :

अब बिनती मम सुनहु सिव...। १/७६

आप स्वामी हैं तो स्वामी से विनती ही करनी चाहिए, पर आप शायद स्वीकार न करें और कहें कि मैं स्वामी हूं; और अगर मित्र मानते होंगे तो मुझसे स्नेह करते होंगे—**जौं मो पर निज नेहु**। इसलिए अगर आप मेरे स्वामी हैं तो विनती सुनिए, मित्र हैं तो मैं स्नेह की दुहाई दे रहा हूं और अगर आप कहें कि नहीं मैं तो भक्त हूं, आपका सेवक हूं तो फिर मैं आदेश दे रहा हूं कि **जाइ बिबाहहु**, जाकर विवाह कीजिए। किसी तरह से भी हो आपको विवाह करना पड़ेगा यह **मोहि मागें देहु**, बस मैं तो मांगने के लिए आया हूं। भगवान् शिव ने यह सुनकर कहा :

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं ।
नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ।। १/७६/१

महाराज, मुझे तो यह प्रिय नहीं लग रहा है, पर आपका आदेश है तो मैं कैसे टालूं । भगवान् राम तो कहकर चले गये लेकिन बात उलटी हो गई और शंकरजी फिर अन्तर्मुख हो गये । भगवान् राम के आदेश को उन्होंने मान लिया, और कह दिया कि आपका आदेश सिर-माथे— **सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा** । भगवान् राम ने कहा कि बिलकुल नहीं, सिर-माथे बिलकुल ठीक नहीं । क्योंकि ज्यों ही शंकरजी के सिर पर उनकी दृष्टि पड़ी तो भगवान् राम को लगा कि गंगा की धारा बह रही है इसलिए कहीं ऐसा न हो कि हमारी आज्ञा भी बह जाये । इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि शंकर के सिर पर गंगा है और गंगा भक्ति की प्रतीक है । अतः भक्ति के प्रवाह में क्या यह स्मृति भी रह पायेगी कि विवाह कर लीजिए । भगवान् राम को इस बात की चिन्ता है कि यदि अन्तःकरण में भक्ति-रस उमड़ा, प्रेम उमड़ा तो क्या सचमुख अन्तःकरण के उस प्रेम-रस के प्रवाह में विवाह करने की स्मृति भी रह पायेगी या नहीं । इसलिए भगवान् राम शंकरजी से कह देते हैं कि नहीं, मेरी आज्ञा सिर-माथे मत रखिए । बल्कि—**अब उर राखेहुं जो हम कहेउ**, जो मैं कह रहा हूं उसे हृदय में रखिए । उसको बोझ की तरह मत ढोइये, उसे गंगा के प्रवाह में मत बह जाने दीजिए, अपितु बिलकुल हृदय में रख लीजिए । गोस्वामीजी ने तो बड़े सार्थक शब्द का प्रयोग किया है किन्तु शंकरजी ने उलटा ही क्रम रखा । उनका भी कोई दोष नहीं । प्रकृति, स्वभाव से ही जो अन्तर्मुख है वह तो अन्तर्मुखता की ओर ही जायेगा । यह बड़ी कठिन समस्या है । उदाहरण के लिए जैसे हम लोगों का सहज स्वभाव बहिर्मुखता की ओर है इसलिए हम लोग पूजा के कमरे में कितना भी आंख मूंदकर क्यों न बैठें फिर भी संसार की याद करते रहते हैं । यह हमारी प्रकृति बन गई है । हम बाहर के इतने अभ्यस्त हैं कि पूजा में भी बाहर का चिन्तन करते रहते हैं । जबकि कुछ लोग भीतर के इतने अभ्यस्त होते हैं कि यदि बाहर भी देखें तो तुरत भीतर चले जायें । वे बाहर रह ही नहीं पाते । शंकरजी के चरित्र में ठीक यही हुआ । भगवान् राम के जाते ही शंकरजी :

अन्तरधान भए अस भाषी।
संकर सोइ मूरति उर राखी ॥ १/७६/७

शंकरजी ने भगवान् राम की सुन्दरता को हृदय में रख लिया और सचमुच विवाह की आज्ञा को भूल गये। सांकेतिक तात्पर्य है कि ठीक है, भगवान् राम ने विवाह करने को कहा था पर विवाह के लिए आकर्षण भी तो होना चाहिए। जब वे श्री राम के सौन्दर्य के आकर्षण में, ध्यान में डूब गये तो यह भी स्मृति नहीं रह गई कि क्या आदेश दिया गया था। श्री राम के सौन्दर्य-चिन्तन में अन्तर्मुख हो जाने का परिणाम यह हुआ कि तारकासुर का अन्याय और अत्याचार बढ़ता ही गया। तब देवताओं ने ब्रह्मा से पूछा कि अब क्या किया जाये। ब्रह्मा ने हंसकर कहा कि श्री राम ने शंकरजी को बहिर्मुख तो बनाया पर वे फिर अन्तर्मुख हो गये। इसलिए अब तो ऐसे व्यक्ति को भेजो जो केवल बहिर्मुख ही बनाता हो, अन्तर्मुख न बनाता हो। देवताओं ने पूछा कि ऐसा कौन हो सकता है? ब्रह्मा बोले कि शंकरजी के प्रसिद्ध शत्रु काम को भेजो। राम का स्वभाव है बाहर से भीतर की ओर ले जाना और काम का स्वभाव है भीतर से बाहर की ओर ले आना। जब व्यक्ति के अन्तःकरण में काम आयेगा तो वह किसी बहिरंग सौन्दर्य के प्रति आकर्षण से ही तो उत्पन्न होगा। अतः व्यक्ति भीतर से बाहर तो निकलेगा। अतएव शंकरजी के लिए काम को भेजा गया जो उन्हें भीतर से बाहर निकाले। और उसे सचमुच भीतर से बाहर निकालने की कला में सफलता मिली। शंकरजी निकले, भले ही उन्हें क्रोध आ गया और क्रोध में दण्ड दे दिया पर देवताओं को यह बड़ा अच्छा अवसर मिला। देवताओं ने कहा कि महाराज, जब आप बाहर निकल ही आये हैं जबकि बेचारे काम ने आपके मन में केवल विकार उत्पन्न किया था किन्तु इतने पर भी आपने उसे क्षमा न कर दण्ड दे दिया तो जो तारकासुर लाखों पर अत्याचार कर रहा है उसको भी तो दण्ड दिलायें। कृपा करके अब बहिर्मुखता ही स्वीकार कर लीजिए। नेत्र खोलकर विवाह कीजिए और विवाह के पश्चात् संसार को ऐसा पुत्र दीजिए जो तारकासुर का विनाश करके संसार को उस अभिशाप से मुक्त कर सके। जब शंकरजी क्षुब्ध होते हैं, भीतर से बाहर आते हैं तो वह क्षोभ लोक-कल्याण का सेतु है। इस क्षोभ को

हम दो रूपों में अभिव्यक्त कर सकते हैं। जैसे कभी-कभी ऐसा होता है कि आपने दूध गरम करने को चढ़ाया लेकिन दूध फट गया, तो कहते हैं कि दूध फट गया किन्तु जब आप दूध में स्वयं दही डालकर, उसे जामन देकर जमाते हैं तो दूसरे दिन यह नहीं कहते कि दूध फट गया। यद्यपि वह दूध भी अपने रूप को बदल चुका है किन्तु कहते हैं कि दही बन गया। तात्पर्य यह कि अनजाने में विकृति उत्पन्न हो जाये तो फटना और जान-बूझकर विकृति उत्पन्न की जाये तो बनना। इसका अर्थ यह है कि संसार में अधिकांश लोगों के मन में जो विकार होते हैं वे दूध फटने की तरह हैं। हम लोगों का मन विकार से फट जाता है। पर जब दूध न पचे तो उसका दही बनाकर सेवन करते हैं, क्योंकि वह अधिक सुग्राह्य है। इसी प्रकार से जब ब्रह्म दुष्पाच्य हो जाता है तो उसको सुपाच्य बनाने के लिए भक्त लोग कहते हैं कि जरा इनमें भी विकृति उत्पन्न करो, बदलो इनको थोड़ा। यदि ये बदलेंगे तो हम लोगों के लिए अधिक ग्राह्य हो जायेंगे। इसलिए यह विकार बाहर से लादा गया, अनजाने में आया हुआ नहीं है, बल्कि योजनापूर्वक जान-बूझकर लोक-कल्याण के लिए उत्पन्न किया गया है, उसकी सृष्टि की गई है। जब शंकरजी बहिर्मुख हुए, बाहर निकले तो संसार को दो लाभ हुए। एक ओर तो विवाह हुआ, विवाह के पश्चात् षडानन का जन्म हुआ और षडानन ने तारकासुर का संहार किया जिससे संसार के लोग सुखी हो गये। दूसरा बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि शंकरजी रामकथा, श्री राम के पूरे चरित्र, रामचरितमानस को हृदय में रखे हुए थे, पर अन्तर्मुख थे। जो अपने-आप में डूबा रहता है उसे श्रोता की आवश्यकता नहीं होती पर जो चाहता है कि दूसरे भी तो कविता की प्रशंसा करें, वह तो श्रोता चाहेगा ही। इसलिए कवि लोग कविता करते हैं तो श्रोता जरूर ढूंढ़ते हैं। किन्तु शंकरजी ऐसे अनोखे कवि थे कि कविता बना ली पर श्रोता नहीं ढूंढ़ा। यह शंकरजी का बड़प्पन तो था लेकिन श्रोता ढूंढ़ने में एक लाभ भी है। अगर कोई सुन्दर कविता आपके मन में हो तो आप ही उसका रस ले पाते हैं किन्तु जब उसका रस किसी अन्य को दिया जाता है तो वह व्यक्ति भी आपके उस आनन्द में भागी बन गया। गोस्वामीजी ने कहा—**रचि महेस निज मानस राखा,** शंकरजी के मन में न जाने कब से रामकथा थी, जाने कब से श्री राम का चरित्र विद्यमान था, पर सुनाते किसी को नहीं थे।

जब अन्तर्मुख से बहिर्मुख हो गये तो विवाह के पश्चात् शंकरजी वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, पार्वतीजी गईं और उन्हें देखकर शंकरजी अन्तर्मुख हो गये। शंकरजी ऐसे विलक्षण हैं कि वे तो लोक-मर्यादा को स्वीकार ही नहीं करते। पिछले जन्म की जो सती थीं उनके पिता से झगड़ा ही इस बात को लेकर हुआ था कि ब्रह्मा की सभा में दक्ष को देखकर सब खड़े हो गये पर शंकरजी बैठे रह गये। लोक-व्यवहार का ध्यान नहीं रहा क्योंकि नेत्र मूंदे हुए थे। सच बात तो यह थी कि जान-बूझकर उन्होंने अपमान नहीं किया था। जिस समय प्रजापति आये तो सब उठकर खड़े हो गये, पर शंकर उस अखण्ड ईश्वर में डूबे हुए थे। ऐसे कितने प्रजापति आते-जाते रहते हैं, वे बाहर क्या देखें ! जब शंकरजी नेत्र मूंदे रहते हैं तो लोक-व्यवहार भी छूट जाता है पर आज जब पार्वतीजी आईं तो लगा कि वे लोक-व्यवहार में कितने निपुण हैं। गोस्वामीजी ने कहा अब आंखें मूंदे हुए थोड़े ही हैं, पार्वती को देख रहे हैं और—**जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा**, बड़ा सम्मान किया पार्वतीजी का। उन्हें सम्मानपूर्वक बुलाया—आइये, पधारिये और—**बाम भाग आसनु हर दीन्हा**, शंकर ने बिलकुल अपने पास वाम भाग में बैठा लिया। इसके पश्चात् पार्वतीजी ने कहा :

बैठीं सिव समीप हरषाई।
पूरुब जन्म कथा चित आई॥
पति हियं हेतु अधिक अनुमानी।
बिहसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥ १/१०६/४

महाराज, मैं कथा सुनना चाहती हूं। शंकरजी को हंसी आ गई। पार्वतीजी ने कहा कि महाराज, अगर आपने पूर्वजन्म में ही कथा सुना दी होती तो कोई झगड़ा ही न होता। कथा सुनवाने के लिए आप ले भी गये तो दूसरे के पास, किन्तु यदि आपने सुना दी होती तो शायद मेरे भ्रम का निवारण हो जाता। इसलिए :

कथा जो सकल लोक हितकारी।
सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥ १/१०६/६

जो संसार का हित करनेवाली कथा है वही मैं पूछना चाहती हूं और इसके बाद बड़ा सुन्दर संकेत आता है :

पूंछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा।। १/१११/७

सबसे पहले गंगा का प्रादुर्भाव हुआ था ब्रह्मा के कमण्डल में ब्रह्मलोक में। प्रश्न यह है कि जब गंगा ब्रह्मा के कमण्डल में थीं तब चाहे कितनी भी महान् क्यों न रही हों पर हमारे किस काम की थीं? गंगा हमारे लिए काम की तो तब बनीं जब ब्रह्मा के कमण्डल से उतरकर शंकर के सिर पर आईं, शंकरजी के सिरसे भी उतरकर गंगोत्री में आ गईं और गंगोत्री से उतरकर हरिद्वार में आ गईं। गंगा ज्यों-ज्यों नीचे उतरती गईं त्यों-त्यों हमारे लिए कल्याणकारी होती गईं। हम उन गंगा की पूजा करते हैं जो लोक-कल्याण के लिए ऊपर से नीचे उतरती हैं। भगवान् शंकर ने कहा कि सचमुच रामकथा की गंगा अभी तक मेरे अन्तर्मन में थीं, पर तुम उस गंगा को बाहर निकाल रही हो, यह तुमने बड़ा अच्छा किया। पर गोस्वामीजी ने वहां बहुत सुन्दर विरोध व्यक्त किया। बिना अन्तर्मुख हुए तो कोई व्यक्ति कथा कह नहीं सकता तथा बहिर्मुख है तो कथा का रहस्य नहीं जान सकता और बोल भी नहीं सकता। इसलिए वक्ता की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसको जीवन में अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता दोनों को एक-साथ स्वीकार करना पड़ता है। अतः जब पार्वतीजी ने कथा सुनाने को कहा तो शंकरजी ने तुरत नेत्र मूंद लिये और अन्तर्मुख हो गये। गोस्वामीजी इस प्रसंग का वर्णन कितने सुन्दर शब्दों में करते हैं:

हर हियं रामचरित सब आए।
प्रेम पुलक लोचन जल छाए।।
श्रीरघुनाथ रूप उर आवा।
परमानन्द अमित सुख पावा।। १/११०/७

शंकरजी ने नेत्र मूंद लिये, भगवान् राम का पूरा चरित्र और रूप उनके हृदय में आ गया, और वे रस में डूब गये। शंकरजी स्वयं रस में डूबे हुए हैं तो बाहर बैठी हुई पार्वतीजी क्या करें? उनको आनन्द कैसे आये? वक्ता अगर स्वयं ही भगवान् के चरित्र के बारे में बार-बार मधुर बातें सोचे और मन-ही-मन रस ले और श्रोता को न सुनाये तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसको अधिक आनन्द आता है, लेकिन

उस आनन्द की अनुभूति में दूसरे तो भागीदार तभी हो सकेंगे जब वे बाहर निकलें। गोस्वामीजी विरोध में कहते हैं कि जैसे आप कहीं जाने वाले हों किन्तु घर में अकस्मात् अतिथि के आ जाने के पश्चात् तो आपको रुकना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जब शंकरजी कथा सुनाने बैठे और भगवान् राम हृदय में पधार गये तो वे उनके स्वागत में लग गये और बाहर बैठी पार्वतीजी चिन्ता कर रही हैं कि अब क्या हो ! गोस्वामीजी ने कहा कि जब भगवान् राम हृदय में आये तो शंकरजी भी हृदय में चले गये, किन्तु कथा सुनानी थी इसलिए :

श्रीरघुनाथ रूप उर आवा।
परमानन्द अमित सुख पावा॥
मगन ध्यानरस दण्ड जुग... १/११०/८

दो दण्ड तक भगवान् राम के ध्यान में डूबे रहे और दूसरा वाक्य है—**पुनि मन बाहेर कीन्ह**, अर्थात् बहिर्मुख बन गये। इसका अभिप्राय यह है कि शंकरजी अगर बाहर न निकलें तो वह कथा बाहर नहीं होगी, भाषण नहीं होगा। शंकरजी ने अब पार्वतीजी को निमित्त बनाकर कथा सुनाई। भगवान् राम बैठे हुए हैं किन्तु शंकरजी ने उनसे छुट्टी मांग ली। जैसे आपने अतिथि से पूछा कि क्या आप जाने वाले हैं? अतिथि ने कहा कि नहीं, मैं तो ठहरने आया हूं। ऐसी स्थिति में आप यही तो कहेंगे कि अच्छा, आप ठहरिये हम जरा बाहर काम कर आयें। इसी प्रकार शंकरजी ने भी श्री राम से कहा कि महाराज, आप हृदय में तो बैठ ही गये हैं अब तो निकलेंगे नहीं। भगवान् बोले कि नहीं, तुम्हारा हृदय छोड़कर कहां जायेंगे। तो शंकरजी ने कहा कि महाराज, मैं ही जरा आपको छोड़कर बाहर कथा सुना दूं। शंकरजी जब बाहर आते हैं तभी तो रामकथा संसार को प्राप्त होती है। अतः उस अन्तर्मुखता को लेकर क्या करें जो हमें रामकथा से वंचित करे और तारकासुर के अत्याचार से संत्रस्त करे। अतएव शंकरजी की बहिर्मुखता, उनका क्षोभ लोक-कल्याण के लिए आवश्यक है। यही बात श्री राम के चरित्र में है। श्री राम अगर साक्षात् निराकार-निर्गुण ब्रह्म हैं, जैसी कि भक्तों और रामचरितमानस की मान्यता है, तो भगवान् समत्व में स्थित हैं और जब भगवान् समत्व में स्थित हैं तो रावण का अत्याचार हो रहा है। रावण के अत्याचार के बावजूद

ईश्वर के मन में स्वत: अवतार लेने और रावण को मिटाने का संकल्प तो नहीं आया। ऐसी स्थिति में उस ईश्वर का जो समता और विराग में डूबा हुआ है, लक्षण यह है। प्रश्न किया गया कि ईश्वर कहां है? किसी ने कहा वैकुण्ठ में, किसी ने कहा क्षीरसागर में। शंकरजी से भी पूछा गया कि महाराज, आप बताइये कहां है? शंकरजी ने कहा, हर स्थान पर। महाराज, यदि हर स्थान पर है तो लंका में भी होगा, भारत में भी होगा और लंका में ही क्यों होगा रावण के हृदय में भी होगा या नहीं? बड़ी विलक्षण स्थिति हो गई यह तो। यदि ईश्वर सर्वत्र है तो रावण के हृदय में भी है और रावण के देश में भी है। वह हर युग में है, हर काल में है, हर व्यक्ति में है। किन्तु महाराज, रावण इतना अत्याचार कर रहा है यह क्या बात है? शंकरजी ने कहा कि कर तो रहा है पर एक कठिनाई है :

अग जगमय सब रहित बिरागी। १/१८४/७

सब जगह है पर सबसे दूर है, क्योंकि वह विरागी है। उस पर घट-नाओं का कोई प्रभाव पड़ता ही नहीं, उसने तो सृष्टि से अपने को तटस्थ बना लिया है और सृष्टि कर्म-सिद्धान्त के अनुकूल चल रही है। रावण ने तपस्या के द्वारा क्षमता प्राप्त की है और जब तक उसके पास तपस्या की क्षमता है तब तक वह उसका मनमाना उपभोग करने के लिए स्वतन्त्र है, स्वयं ईश्वर पाप-पुण्य में हस्तक्षेप करनेवाला नहीं। इस पर शंकरजी से पूछा गया कि महाराज, फिर हम लोग क्या करें? शंकरजी ने कहा कि यह जो विरागी ईश्वर है उसमें यदि किसी प्रकार से राग उत्पन्न कर दिया जाये, ममता पैदा कर दी जाये, स्नेह और क्रोध पैदा कर दिया जाये तभी संसार में सारा कार्य बनेगा। पहले किसी तरह इस विरागी ईश्वर को रागी बनाने की चेष्टा करो। यही अवतारवाद है। अवतारवाद का तात्पर्य है जहां ईश्वर को ऊपर से नीचे, भीतर से बाहर, अन्तर्मुख से बहिर्मुख, परम प्रशान्त स्थिति से विक्षुब्ध बनाने की जो प्रक्रिया है वही अवतारवाद है। किन्तु प्रश्न उठा कि ईश्वर में राग की सृष्टि कौन करेगा? ईश्वर में राग की सृष्टि करनेवाली यही श्री सीताजी हैं। उस वाटिका में जो केन्द्र-बिन्दु हैं, जिनकी सुन्दरता को देखकर भगवान् राम ने स्वीकार किया कि लक्ष्मण, मेरा मन तो विक्षुब्ध हो गया है, आज मेरा मन बदल गया

है । इसका अर्थ है कि ऐसा कभी नहीं होता था कि किसी के सौन्दर्य को देखकर मेरा मन आकृष्ट हो, पर में स्वीकार करता हूं कि श्री सीताजी का सौन्दर्य देखकर आज मेरा मन क्षुब्ध हो गया है। श्री सीताजी का अभिप्राय कई बार दोहराया जा चुका है । श्री सीताजी मूर्त्तिमती भक्ति हैं :

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।। २/३२१

अर्थात् भक्ति के द्वारा ही ईश्वर में राग उत्पन्न किया जा सकता है, भक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि ईश्वर के अन्तर्मन में राग की सृष्टि करके उसको बाहर ले आयें । यही श्री सीताजी का कार्य है । अब हम इस विषय पर तनिक तुलनात्मक रूप से विचार करें क्योंकि रामचरित-मानस में भक्ति के भी दो रूप हैं। कौशल्याजी को भी गोस्वामीजी भक्ति का प्रतीक मानते हैं और श्री सीताजी को भी । कौशल्याजी के प्रतिरूप को भी आपने देखा होगा जिस समय वे पूर्वजन्म में शतरूपा के रूप में मनु के साथ तपस्या करने के लिए जा रही थीं उस समय गोस्वामीजी ने लिखा :

पंथ जात सोहहिं मतिधीरा ।
ग्यान भगति जनु धरें सरीरा ।। १/१४२/४

ये शतरूपा क्या हैं ? भक्ति हैं और वही कौशल्या के रूप में जन्म लेती हैं । इसका अभिप्राय है कि भक्ति के दो रूप हैं— साधना भक्ति और सिद्धा भक्ति । साधना भक्ति कौशल्या हैं और सिद्धा भक्ति श्री सीताजी हैं । कुछ काम तो ऐसे थे जो श्री कौशल्याजी ने पूरे कर लिये थे लेकिन बाकी बचे हुए काम श्री सीताजी ने पूरे किये । इसीलिए आगे चलकर आप पढ़ते हैं कि सीताजी को निमित्त बनाकर ही रावण का विनाश हुआ । नन्हा बनाने की कला, श्री राम को छोटा बनाने की कला वह कौशल्याजी के कारण है :

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ।। १/१९८

कौशल्या अम्बा ने उन्हें गोद में ले लिया, ब्रह्म को रूप मिल गया ।

अयोध्यावासियों ने एक बहुत बढ़िया कार्य यह किया कि कौशल्याजी ने महाराज दशरथ से कहा कि महाराज, इस बालक का नाम तो रखवा लिया जाये। गुरु वशिष्ठ को बुलाया गया, और उनसे अनुरोध किया गया कि इनका नाम रख दीजिए। ब्रह्म का पहले कोई नाम था नहीं। रामचरितमानस में भी आता है :

एक अनीह अरूप अनामा। १/१२/३

ब्रह्म था अनाम। अयोध्या में कम-से-कम उसका जन्म तो हुआ और अनाम-अरूप ब्रह्म रूपवान हो गया तथा अनाम ब्रह्म का नाम रख दिया गया। नाम रखने का लाभ यह हुआ कि भक्तों ने इस रहस्य को जान लिया कि जब व्यक्ति का नाम हो जाये तो उसे बदनामी से डर भी लगता है और यदि नाम ही नहीं है तो बदनामी का डर कैसा ! किन्तु वेदान्त का ब्रह्म बदनामी से नहीं डरता। उसका कहना है कि मेरा तो नाम ही नहीं है, मुझे क्या बदनाम करोगे ! इसलिए आप कुछ भी कहिए नामरहित होने के नाते वेदान्त के ब्रह्म पर प्रभाव पड़नेवाला नहीं। लेकिन भक्तोंवाले ईश्वर का तो नाम रख दिया गया, और ये नाम रखनेवाले भक्त भी ऐसे चतुर हैं कि चुन-चुनकर नाम रखते हैं। और स्वतन्त्रता कितनी ? जब वशिष्ठजी सोचने लगे तो नामों की बड़ी लम्बी शृंखला आ गई। अतः उन्होंने कहा कि या तो इनका कोई नाम नहीं है और नाम है तो इनके नाम—**अनेक अनूपा**, अनेक हैं, अनूप हैं। इसलिए मैं नाम रख रहा हूं :

जो आनन्द सिंधु सुखरासी। १/१९६/५

यह रामनाम है। रामनाम की दो व्याख्याएं हैं—योगी जिसमें रमण करते हैं वह राम, लेकिन यह व्याख्या नहीं की गई। वे राम तो योगियों के लिए अभीष्ट हैं पर ये तो दशरथ-सुत राम हैं। और इनकी विशेषता है कि ये योगियों के लिए ही सुलभ नहीं, बल्कि गुरु वशिष्ठ ने कहा—**जो आनन्द सिंधु सुखरासी**। लेकिन ईश्वर की सबसे अधिक आवश्यकता है समाज को :

सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा॥ १/१९६/५

जो सारे संसार को विश्राम दे उसका नाम राम है। भक्त भी बड़े चतुर हैं। नाम दे दिया राम और कह दिया कि यदि विश्राम नहीं मिलेगा तो आपका राम नाम झूठ। राम नाम लेने पर भी यदि विश्राम न मिले तो लगेगा कि इस नाम का कोई अर्थ नहीं है। गोस्वामीजी विनयपत्रिका में यही कहकर भगवान् को डराते रहते हैं। जब डराना होता है तो यही उपाय काम में लाते हैं। तुलसीदास जी ने कहा कि महाराज, मैं जानता हूं कि मेरे कर्म ही ऐसे हैं कि मुझे नरक में ही जाना पड़ेगा। भगवान् ने कहा कि तब तो बड़ा डर लगता होगा। गोस्वामीजी ने उत्तर दिया कि बिलकुल नहीं :

नाहिन नरक परत मो कहं डर।

नरक में जाने में मुझे बिलकुल डर नहीं लगता। भगवान् ने पूछा कि लोग तो नरक के नाम से आतंकित हो जाते हैं, तुम्हें बिलकुल डर नहीं लगता ? तुलसीदासजी बोले, महाराज वे पहली बार जाने-वाले होंगे इससे शायद डरते होंगे, यहां तो बहुत बार जा चुके हैं इसलिए अभ्यस्त हो चुके हैं। होता भी यही है। यदि कोई पहली बार कारागार में जाये तो उसे डर लगेगा और बार-बार जानेवाले तो फिर उसी के अभ्यस्त हो जाते हैं। भगवान् ने कहा कि जब तुम्हें चिन्ता ही नहीं है तो मुझसे क्या कहने आये हो ? गोस्वामीजी बोले कि मुझे अपनी चिन्ता थोड़े ही है। तो फिर किसकी चिन्ता है ? तुलसीदासजी ने कहा :

नाहिन नरक परत मो कहं डर यद्यपि सब बिधि हारो।
पर यह बड़ त्रास दास तुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो।।

विनयपत्रिका, ९४

महाराज, मैंने आपका नाम इस जन्म में लेना प्रारम्भ किया और पाप बना हुआ है, अतः मुझे यह चिन्ता है कि आपके नाम की महिमा समाप्त हो जायेगी तो क्या होगा ! इस नाम की लाज तो बचाइये। यह क्या कि भक्त कहता है इस ईश्वर को नाम दो। बड़ी सीधी-सी बात है कि नाम के माध्यम से ईश्वर में कुछ गुण अभिव्यक्त होने हैं। जैसे गाय के सामने अगर आप शत्रुता का भाव लेकर जायें तो आपको उसके सींग उठते हुए दिखाई देंगे, उसका क्रोध का भाव प्रकट होगा,

किन्तु यदि उसी गाय के सामने बछड़ा चला जाये तो उसका वात्सल्य उमड़ आयेगा। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर में अनगिनत गुण हैं और उन अनगिनत गुणों में से आप जिस गुण को प्रकट करना चाहें, उसी के अनुरूप व्यवहार कीजिए और ईश्वर का वही गुण प्रकट हो जायेगा। भक्तों ने तो एक-से-एक बढ़िया नाम दिया। जिसको भगवान् से मांगना होता है वह तुरन्त भगवान् से कहता है कि आपका नाम उदार है। नारदजी को मांगना था तो—**सुनहु उदार सागर रघुनायक,** और उसके पश्चात् कहने लगे कि मैं मांगने के लिए आया हूं। शंकरजी को मांगना था भगवान् राम से तो उन्होंने कहा :

नाथ जबहिं कोसलपुरीं होइहि तिलक तुम्हार।
कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार॥ ६/११५

मैं आपका उदार चरित्र देखने आया हूं और इस प्रकार पहले ही सूचना दे दी कि मांगूंगा। भगवान् देंगे तभी तो उदार कहलायेंगे, यदि नहीं देंगे तो थोड़े ही उनकी उदार उपाधि रह जायेगी। अतः गोस्वामी जी एक दिन भगवान् राम की सभा में पहुंच गये और कहा कि मैंने आपके लिए एक नाम चुना है—पतितपावन। भगवान् ने कहा कि स्वीकार है। तुलसीदासजी बोले कि महाराज, स्वीकार होने से कैसे बात बनेगी, क्योंकि आपका नाम मैंने अन्य सन्तों से भी सुना है कि आप पतितपावन हैं और आपकी सभा में देखता हूं तो सन्त-ही-सन्त दिखाई दे रहे हैं— भरतजी, लक्ष्मणजी, हनुमानजी। इसलिए आपका यह नाम तो व्यर्थ है। मैं आपको एक उपाय बताना चाहता हूं कि मुझे शरण में रख लीजिए और उसके बाद कोई पूछे कि कैसे पतितपावन हैं तो मेरी ओर संकेत कर दीजिएगा कि तुलसीदास-जैसे पतित को अपना लिया है इसलिए पतितपावन हैं। अतः मुझे रखने में तो आपका ही लाभ है, क्योंकि मैं तो पुराना पतित हूं :

मैं हरि पतितपावन सुने।
मैं पतित तुम पतितपावन दोऊ बानक बने॥ विनय०, १६०

हमारी आपकी जोड़ी बहुत बढ़िया रहेगी। आप होंगे पतितपावन पर पतितपावन की सार्थकता तो पतित से है। इसलिए मुझे स्वीकार कर लें तो बात बन जायेगी। अयोध्या में भगवान् को सुन्दर-सुन्दर

नाम दिये गये। लेकिन एक बात बड़ी मधुर आती है। जनकपुर में बात कुछ और बढ़ गई। श्री सीताजी से विवाह हो जाने के पश्चात् क्या हुआ ? अयोध्या में भगवान् राम का नाम बड़ा फलदायी था, पर यहां तो नई बात हो गई। जनकपुर में श्री राम का नाम लेकर गालियां दी जा रही हैं और गालियां देने पर भी भगवान् राम सुनकर हंस रहे हैं। अयोध्या में भक्ति के द्वारा पहले तो लगा कि यह भगवान् का नाम लेने की विधि है पर जनकपुर में जब भक्ति की पराकाष्ठा हुई तो पता चला कि गाली में लिया गया नाम भी उन्हें प्रिय ही लगता है। भक्ति के नगर में प्रीति के स्वर में एक नई बात आ गई, मानो प्रीति की पराकाष्ठा में आकर अब विधि नहीं रह गई :

भायं कुभायं अनख आलसहूं।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूं ॥ १/२७/१

भगवान् राम तद्रूप हो गये और उसके पश्चात् सांकेतिक भाषा क्या है ? जैसा गोस्वामीजी ने संकेत किया कि महाराज दशरथ भोजन करने के लिए बैठे तो सुमन्तजी से कहा कि श्री राम को बुला लाइये। सुमन्तजी बुलाने गये तो श्री राम ने कह दिया कि मैं नहीं आता, क्योंकि सुमन्तजी से बुलाने में थोड़ी भूल हो गई थी। सुमन्तजी तो अभ्यस्त थे महाराज-महाराज कहने के, इसलिए यहां पर भी कह बैठे कि आपको महाराज बुला रहे हैं :

जो कहा भोजन करन बुलावत राजा।

इससे भगवान् का ईश्वरत्व जाग उठा इसलिए शब्द का प्रयोग करने में सावधान रहना चाहिए। यही तो बोलने में भूल हो गई कि राजा बुला रहे हैं। भगवान् राम को लगा कि अरे, मैं अनन्त ब्रह्माण्डों का राजा, ये कौन राजा हो गया जो मुझे बुला रहा है ! अगर किसी राजा को आना है तो मेरे पास आना चाहिए। वस्तुतः कहना चाहिए था कि पिताजी बुला रहे हैं। तब वे तुरन्त चले जाते क्योंकि पिता के तो बहुत आज्ञाकारी थे। किन्तु सुमन्तजी के मुंह से निकला कि राजा बुला रहे हैं। और जब उन्होंने कहा कि नहीं आ रहे हैं तो फिर कौशल्याजी गईं। यही भक्ति है। भक्ति के द्वारा ही ईश्वर पकड़ में आयेगा :

कौसल्या जब बोलन जाई।
ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अन्त न पावा।
ताहि धरै जननी हठि धावा॥ १/२०२/७

पकड़ में न आनेवाला वेदान्त का जो ब्रह्म था, भक्तिदेवी आज उस ब्रह्म को पकड़ने के लिए दौड़ रही हैं। ब्रह्म ने थोड़ी देर तक पुरुषार्थ किया भागने का कि भई, मैं तो पुराना ब्रह्म हूं, पकड़ में नहीं आता पर भक्तिदेवी ने भी कहा कि हम तो पकड़कर दिखा देंगे और सचमुच श्री राम धूल में गिर पड़े। कौशल्याजी ने उन्हें गोद में उठा लिया और लाकर महाराज दशरथ की गोदी में दे दिया। मानो भक्तिदेवी साधना भक्ति ने बता दिया कि पकड़ में न आनेवाला जो ईश्वर है वह भक्त के द्वारा पकड़ में आ जाता है, गोद में आ जाता है। लेकिन भाई, श्री सीताजी की तो बात ही और है! कौशल्याजी ने इतना तो बता दिया कि जो ईश्वर पकड़ में नहीं आनेवाला है वह पकड़ में आ जाता है। श्री सीताजी ने उससे आगे बात बढ़ा दी और इसीलिए जनकपुर की आवश्यकता है, पुष्पवाटिका की आवश्यकता है। बड़ा मधुर प्रसंग है यह। जब हनुमानजी पहली बार प्रभु से मिले तो पहले दूर से प्रणाम किया, फिर गिरकर प्रभु के चरण पकड़ लिये। जब उन्होंने प्रभु को ब्रह्म के रूप में देखा तो दूर से प्रणाम किया और बाद में जब भगवान् राम ने अपना परिचय दशरथ-पुत्र के रूप में दिया तो चरण पकड़ लिये। भगवान् राम ने कहा कि यह तो उलटी बात है। नियम यह है कि यदि कम श्रद्धा हो तो दूर से प्रणाम करे और अधिक श्रद्धा हो तो चरणों में गिरकर प्रणाम करे। किन्तु ब्रह्म के रूप में तुमने दूर से प्रणाम किया और राजकुमार के रूप में चरणों में प्रणाम किया और चरण पकड़ लिये। हनुमानजी ने हंसकर कहा कि प्रभु, ब्रह्म के रूप में तो आपको दूर से ही प्रणाम किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म तो मन, बुद्धि और वाणी से परे है पर जब आपने कहा कि हम तो दशरथ के पुत्र बन गये हैं तो मेरी समझ में यह बात आ गई कि पकड़ में आनेवाला ईश्वर तो अब मिला है। इसलिए मैंने आपको पकड़ लिया। अब पता चला कि जो ईश्वर पहले पकड़ में नहीं आता था वह दशरथजी का पुत्र बनकर अब गोद में आने-

वाला, पकड़ में आनेवाला बन गया है। लेकिन यहां पर गोस्वामीजी ने शब्द लिखा :

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। ४/१/५

चरणों में केवल गिरे नहीं बल्कि **परेहु गहि चरना**, चरणों को पकड़ लिया। मैं यह बताना चाहता था कि जब हनुमानजी लंका से लौटे तो प्रभु ने उनकी प्रशंसा की। हनुमानजी प्रभु के चरणों में गिर पड़े, पर कुछ अन्तर है। वहां है—**प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना**, चरणों में गिरे और चरणों को पकड़ लिया, पर लंका से लौटकर आने पर चरणों में तो गिरे किन्तु चरणों को पकड़ा नहीं :

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥ ५/३२

प्रभु को आश्चर्य हुआ। प्रभु ने कहा कि तुम तो कहते थे कि पकड़ में आनेवाला ब्रह्म मिल गया, किन्तु आज क्यों नहीं पकड़ रहे हो? हनुमानजी ने हंसकर कहा कि महाराज, लंका से लौट रहा हूं न, मां के पास से। मां ने बता दिया है कि अब ईश्वर को पकड़ने की आवश्यकता नहीं, वही तुम्हें पकड़ेगा। अभी तक मैंने आपको पकड़ने की चेष्टा की लेकिन अब आप मुझे पकड़िये, अब मैं नहीं पकड़ूंगा। साधना भक्ति तब होती है जब व्यक्ति ईश्वर को पकड़ने की चेष्टा करे और सिद्धा भक्ति जीवन में तब आई जब भगवान् ही जीव को पकड़ लें। अतएव हनुमानजी को महामंत्र मिल गया, क्योंकि मां ने बता दिया :

करहुं बहुत रघुनायक छोहू। ५/१६/३

हनुमान तुम चिन्ता मत करो, तुम्हें भजन करने की आवश्यकता नहीं है, श्री राम तुमसे प्रेम करेंगे। जो ईश्वर पहले पकड़ में नहीं आता था वह अयोध्या में पकड़ में आने लगा, लेकिन जनकपुर में तो श्री सीताजी ने पाणिग्रहण के माध्यम से मानो कह दिया कि अब पकड़ना भी सीख लीजिए। भक्ति का पाणिग्रहण करने के बाद ब्रह्म को अभ्यास हो गया कि जो शरण में आये उसे पकड़ लेना चाहिए, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। वस्तुतः भक्तिदेवी ने ईश्वर को कैसे बाहर लाकर उनमें राग की सृष्टि करके उन्हें संसार के लिए उपयोगी बना दिया, इसकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

६

भगवान् श्री राम जनकनन्दिनी के दिव्य सौन्दर्य को देखने के बाद स्वयं में जिस परिवर्तन का अनुभव करते हैं उसका वर्णन वे लक्ष्मण से करते हैं। प्रभु यह स्वीकार करते हैं कि जनकनन्दिनी का सौन्दर्य सर्वथा अलौकिक है, क्योंकि उस सौन्दर्य को देखकर मेरा सहज पवित्र मन आज क्षुब्ध हो उठा है। भगवान् श्री राम के मन के इस क्षोभ का तात्पर्य क्या है, इसकी पृष्ठभूमि पिछले प्रवचन में प्रस्तुत की गई थी। उसे संक्षेप में कहें तो यों कह सकते हैं कि ईश्वर जब क्षोभरहित होता है तो वह अपने-आपमें चाहे कितना भी पूर्ण क्यों न हो संसार के व्यक्तियों के प्रति उदासीन होने और संसार में घटनेवाली घटनाओं में हस्तक्षेप न करने के कारण व्यक्ति के लिए उपयोगी नहीं है। हमें तो ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो हमारे अन्तःकरण की वृत्तियों से प्रभावित हो सके, हमारी व्याकुलता-भरी वाणी सुनकर जिसके अन्तःकरण में करुणा का संचार हो जाये, अन्याय होते देखकर रक्षा के लिए पुकारने पर जिसमें क्रोध का उदय हो जाये और जो आवश्यकता पड़ने पर भक्त की कामनाओं को पूर्ण करने के लिए प्रस्तुत रहे। यह जो सगुण-साकार ईश्वर है, वस्तुतः उसका यही स्वरूप है। इसी का एक प्रतीकात्मक संकेत पुष्पवाटिका-प्रसंग में चुना गया है। साधना भक्ति-रूपा कौशल्या की प्रीति से आकृष्ट होकर, महाराज दशरथ के व्याकुलता-भरे आह्वान से प्रसन्न होकर जब भगवान् श्री राम अयोध्या में अवतरित हुए तो अवतार होते ही ईश्वर ने स्वयं में पक्षपात स्वीकार कर लिया। वेदान्त का ब्रह्म निष्पक्ष है लेकिन जब भगवान् किसी एक देश में अवतार लेंगे तो इसका अर्थ है कि उन्होंने देश का पक्षपात स्वीकार कर लिया, जब तिथि-विशेष को जन्म लेंगे—श्री रामनवमी आगे आ रही है—तो इसका तात्पर्य है कि समस्त तिथियों में एक तिथि की सर्वश्रेष्ठता उन्होंने स्वीकार कर ली और सर्वव्यापी होते हुए

भी अगणित व्यक्तियों में से जब वे माता-पिता के रूप में किसी एक व्यक्ति का चुनाव करते हैं तो स्वाभाविक है कि वहां पर समत्व नहीं रह सकता। और भक्तों के भगवान् के द्वारा यही घोषणा भी की गई। इसका एक सांकेतिक प्रसंग आता है रामचरितमानस के किष्किन्धा-काण्ड में। किष्किन्धाकाण्ड में भगवान् श्री राम से जब हनुमानजी का मिलन होता है तो उस समय भगवान् राम हनुमानजी से कहते हैं कि मैं अपना परिचय तुम्हें इसलिए देना चाहता हूं क्योंकि मेरे स्वभाव के विषय में संसार में एक प्रसिद्ध सिद्धान्त मान्य है और मैं बताना चाहता हूं कि जब मैं इस रूप में जन्म ले लेता हूं तब वह सिद्धान्त सही नहीं होता। भगवान् राम का कथन है कि सभी शास्त्रों में मेरा समदर्शी के रूप में प्रतिपादन किया गया है, लेकिन हनुमान मैं स्पष्ट घोषणा करता हूं कि मैं सम नहीं हूं :

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। ४/२/८

मैं तो स्पष्ट स्वीकार करता हूं कि मुझे सेवक प्रिय है और उन सेवकों में भी जिस सेवक को किसी अन्य का आश्रय नहीं है वह तो मुझे बहुत प्रिय है :

समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ ४/२/८

इन शब्दों में भगवान् राम ने अपनी विषमता को स्वीकार कर लिया। अत: सगुण-साकार ईश्वर सम नहीं हो सकता, विषम ही हो सकता है। यह सुनकर अटपटा-सा लगता है लेकिन यदि आप अन्तरंग में पैठकर देखें तो ईश्वर की समता व्यक्ति के लिए तो बड़ी दु:खदायी है। यों कहा जा सकता है कि मान लीजिए आपके सामने दो व्यक्ति लड़ रहे हैं, जिनमें से एक दुर्बल है और दूसरा सबल और आप तीसरे व्यक्ति उन दोनों के संघर्ष को देखनेवाले हैं। ऐसी स्थिति में अगर आप यह निर्णय कर लें कि मैं समत्व में रहूंगा, तटस्थ रहूंगा तो इसका लाभ किसको मिलेगा ? इसका लाभ तो सबल को ही मिलेगा और निर्बल को इस कारण हानि उठानी पड़ेगी। क्योंकि आपमें निर्बल की रक्षा करने की सामर्थ्य है पर आपने निर्णय कर लिया कि आप तो समत्व में ही बने रहेंगे और दोनों में से किसी का पक्ष नहीं लेंगे। अत: अनजाने

ही आपकी निष्पक्षता बलवान के पक्ष में चली गई। इसलिए ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो निष्पक्षता को छोड़कर पक्षधरता को स्वीकार करे। प्रभु ने हनुमानजी को सम्बोधित करते हुए जो वाक्य कहा उसका एक विशेष उद्देश्य है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर बालि द्वारा भगवान् राम के समदर्शित्व का प्रतिपादन किया गया। अतः बालि आगे जो कहनेवाला है भगवान् राम-हनुमान-सम्वाद में उसका पहले ही खण्डन कर दिया गया। जिस समय सुग्रीव चुनौती देते हैं और बालि उस गर्जना को सुनकर लड़ने के लिए चलता है उस समय तारा ने बालि के चरण पकड़कर कहा कि इस समय सुग्रीव अकेले नहीं हैं क्योंकि यदि वे अकेले होते तो इस प्रकार से गर्जना नहीं कर सकते थे, और मुझे तो यह समाचार मिल चुका है :

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा।
ते द्वौ बन्धु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥ ४/६/२८

मैंने सुना है राम और लक्ष्मण इतने शक्तिशाली हैं कि वे तो काल को भी जीत सकते हैं। ऐसी स्थिति में आपको शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध संघर्ष नहीं करना चाहिए। सुग्रीव के पीछे राम-लक्ष्मण की शक्ति है। किन्तु यह सुनकर बालि हंस पड़ा और कहा कि तुम्हें राम-लक्ष्मण के विषय में जितना पता है मुझे उनके विषय में उससे अधिक ज्ञात है। तुम्हारे कहने से तो ऐसा लगता है कि राम-लक्ष्मण बहुत शक्तिशाली व्यक्ति हैं, लेकिन तुम उन्हें व्यक्ति ही तो मानती हो पर मैं उन्हें व्यक्ति नहीं मानता। मैं तो मानता हूं कि वे साक्षात् ईश्वर हैं। यह सुनकर तारा प्रसन्न हो गई और उसने कहा कि फिर मैं आपको क्या समझाऊं, आप तो मुझसे अधिक जानकार हैं। जब आप जानते ही हैं कि ईश्वर सुग्रीव के पक्ष में है अतः आपको तो सुग्रीव के विरुद्ध कुछ करने का विचार ही नहीं करना चाहिए। लेकिन उसने तुरत दार्शनिक का वही बाना धारण कर लिया। दार्शनिक मुद्रा में बालि ने कहा कि नहीं नहीं, तुमने केवल इतना सुन लिया कि वह ईश्वर हैं, पर ईश्वर का कोई लक्षण भी तो होता है। स्वयं भगवान् राम हनुमानजी से जिस बात का खण्डन करते हैं कि मैं समदर्शी नहीं हूं किन्तु बालि उसी बात

को आग्रहपूर्वक कहता है :

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ। ४/७

भगवान् तो समदर्शी हैं। ऐसी स्थिति में बालि की बात मानें या भगवान् की ! भगवान् ने सांकेतिक रूप में बता भी दिया कि यह समदर्शिता का सिद्धान्त कितनी समस्या उत्पन्न कर देता है, जैसा कि यहां पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। थोड़ी देर के लिए भगवान् बालि की इस परिभाषा को स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने बालि की परिभाषा को इसलिए स्वीकार कर लिया क्योंकि कुछ क्षण पहले सुग्रीव के मुंह से भी ज्ञान की कुछ ऊंची बातें निकल गई थीं। सुग्रीव ने कह दिया कि महाराज, अब तो मेरे मन में इतना उच्च कोटि का ज्ञान उत्पन्न हो गया है कि मुझे शत्रु और मित्र में कोई भेद ही प्रतीत नहीं होता :

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
माया कृत परमारथ नाहीं।। ४/६/१८

भगवान् श्री राम को लगा कि इन लोगों के लिए तो मैं सम से विषम बना किन्तु ये दोनों ही बड़े भारी वेदान्ती बन गये। एक कहता है कि मैं समदर्शी हूं और दूसरा स्वयं को इतना समदर्शी बना चुका है कि उसके लिए शत्रु और मित्र में भेद ही नहीं रह गया है। इसलिए भगवान् राम ने सोचा कि मेरा तो सहज स्वभाव समदर्शिता है, किन्तु ये लोग तो बाद में उसकी चर्चा कर रहे हैं अतः वेदान्त की दृष्टि से थोड़ी देर के लिए समदर्शिता में स्थिर हो जाना चाहिए। वे स्थिर हो गये। बालि और सुग्रीव लड़ रहे हैं और भगवान् राम वृक्ष की आड़ में छिपे हुए हैं। भगवान् का सर्वत्र यही स्वरूप है, यही संकेत है। लोग यह प्रश्न बार-बार दुहराते रहते हैं कि वृक्ष की आड़ में छिपकर बालि को क्यों मारा। भगवान् राम का वृक्ष की आड़ में छिपकर देखना और बाण का प्रहार करना यह केवल बालि-सुग्रीव के सन्दर्भ में ही नहीं बल्कि सार्वकालिक सत्य है। इसी से मिलता-जुलता एक प्रसंग आता है—सुतीक्ष्णजी नृत्य कर रहे हैं और भगवान् श्री राघवेन्द्र उनके उस दिव्य प्रेममय स्वरूप को देख रहे हैं। पर वहां भी शब्द यही हैं :

प्रभु देखें तरु ओट लुकाई।। ३/९/१३

भगवान् राम वृक्ष के पीछे आड़ में छिपकर सुतीक्ष्णजी के प्रेम-भरे नृत्य को देख रहे हैं। सुतीक्ष्ण को प्रेम में नाचते हुए भी वृक्ष की आड़ से देख रहे हैं और यदि बालि और सुग्रीव लड़-झगड़ रहे हैं तो भी वृक्ष की आड़ से देख रहे हैं। यही ईश्वर का स्वरूप है। वृक्ष दिखाई देता है, ईश्वर दिखाई नहीं देता।

यह वृक्ष क्या है ? गोस्वामीजी ने इसका उल्लेख विनयपत्रिका में किया है :

संसार कान्तार अति घोर गम्भीर
वन गहन तरु कर्म संकुल मुरारी। विनय०, ५९

यह संसार वन है और इस संसार-वन में व्यक्ति के कर्म ही विविध प्रकार के वृक्षों के रूप में लगे हुए हैं। इसका अर्थ है कि कर्म प्रत्यक्ष है, ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है और सृष्टि का संचालन उसी कर्म के अनुकूल हो रहा है। उसमें अगर भगवान् कुछ दिखाई भी दे रहे हैं तो यों कह सकते हैं कि वे प्रत्यक्ष नहीं हैं चाहे नृत्य हो रहा हो या संघर्ष, वे तो कर्म के वृक्ष की आड़ में छिपे हुए हैं। और उसका परिणाम क्या हुआ ? दोनों प्रसंगों में यही संकेत है कि भगवान् जब तक वृक्ष की आड़ में छिपे रहेंगे तब तक जीव की समस्या का समाधान नहीं होगा। इसलिए गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् राम पहले वृक्ष की आड़ में छिपकर नृत्य देखते हैं और उस वृक्ष की आड़ को छोड़कर उन्होंने प्रेम में उन्मत्त सुतीक्षणजी को नाचते देखा तो :

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥ ३/९/१४

उनके हृदय में प्रकट हो गये और सुतीक्ष्णजी को जगा ले गये। बस, यही आवश्यक है। जब ईश्वर वृक्ष की आड़ को छोड़कर हमारे सन्निकट आ जाये और हमको जगाकर अपने सम्बन्ध की स्वीकृति दे दे तभी जीव के अन्तःकरण को सन्तोष हो सकता है। श्री राम ने जिस समय सुतीक्ष्णजी को स्नेह से जगाया उस समय वे भी भगवान् को पाकर धन्य हो गये। यह भक्ति की, प्रीति की परम्परा है और वहां विरोध चल रहा है, बालि और सुग्रीव लड़ रहे हैं। किन्तु बालि और सुग्रीव के इस युद्ध में भी भगवान् :

पुनि नाना बिधि भई लराई।
बिटप ओट देर्खाहं रघुराई।। ४/७/८

वृक्ष की आड़ से, कर्म की आड़ से देख रहे हैं। कर्म की क्षमता बालि में अधिक है और सुग्रीव में कम, बालि शक्तिशाली है और सुग्रीव दुर्बल। अत: स्वाभाविक है कि जब दुर्बल और सबल लड़ेंगे तो सबल विजयी होगा। हुआ भी यही, सबल विजयी हुआ, बालि ने सुग्रीव को परास्त कर दिया। सुग्रीव पिटकर, दु:खी होकर भगवान् के पास आये। अब यहीं से ज्ञान के स्थान पर भक्ति की आवश्यकता का उदय हुआ। यदि ईश्वर को हम सम मानें या ईश्वर समत्व में स्थित हो जाये तो वही स्थिति होगी जो बालि-सुग्रीव के सन्दर्भ में हुई। अन्याय करनेवाला अगर शक्तिशाली होगा तो वही विजयी होगा और न्याय करनेवाला पराजित हो जायेगा, जो दुर्बल व्यक्ति है वह परास्त हो जायेगा। गोस्वामीजी ने लिखा कि सुग्रीव लौटकर आये और उन्होंने भगवान् राम को कुछ उलाहने की दृष्टि से देखा जिसका तात्पर्य था कि आपने तो प्रतिज्ञा की थी :

सुनु सुग्रीव मारिहउं बालिहि एकहिं बान। ४/६

यह आपने अच्छा न्याय किया। मुझे तो लड़ने के लिए भेज दिया और आपने कुछ किया ही नहीं। बालि मुझे पीटता रहा और मैं पिटता रहा। भगवान् ने हंसते हुए व्यंग्य-भरी भाषा का प्रयोग किया :

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ।
तेहि भ्रम तें नहिं मारेउं सोऊ।। ४/७/५

जब तुममें शत्रु-मित्र का भेद मिट गया है तो मैं बालि-सुग्रीव को कैसे पहचानता। मैं पहचान ही नहीं पाया कि कौन बालि है और कौन सुग्रीव। इसीलिए यह स्थिति हुई। अतएव यह प्रसंग केवल इतना ही नहीं है कि बालि-सुग्रीव के सन्दर्भ में भगवान् राम ने हस्तक्षेप नहीं किया, यह तो सार्वकालिक है। यदि ईश्वर कर्म के वृक्ष की आड़ में छिपा रहेगा तो कर्म के द्वारा सृष्टि चलती रहेगी, उसमें न्याय-अन्याय होता रहेगा, और यह कदापि स्पष्ट दिखाई नहीं देगा कि न्याय की विजय और अन्याय की पराजय हुई। दिखाई यही देगा कि सबल की

विजय हुई और निर्बल की पराजय हुई। तो फिर निर्बल क्या करे ? यही भक्तिपक्ष है। हनुमानजी से भगवान् राम यही पहले कह चुके हैं। सुग्रीव के जीवन में पहले भी ऐसी स्थिति आ चुकी थी जब वह बालि से पराजित हुआ था और उससे पराजित होकर वह सारे संसार में भागता फिरा था। हम लोग भी बहुधा यही करते हैं। जब हम पराजित होकर भागते हैं तो तब हम केवल कायर होते हैं, किन्तु जब पराजित होकर भगवान् का आश्रय ले लेते हैं, शरणागति ले लेते हैं तो हमारी कायरता भी धन्य हो जाती है; क्योंकि हम भगवान् के आश्रय में पहुंचकर निर्भीक हो जाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि सुग्रीव पहले भी बालि से पिटकर भागे थे और आज भी भागे पर अन्तर यह था कि पहले उनके पास कोई आश्रय नहीं था किन्तु अब उनके मन में अविश्वास नहीं हुआ, उलाहना जरूर आया। उनके अन्तःकरण में आया कि मैं उनसे पूछूं, इतनी सामर्थ्य होते हुए भी आपने मेरी रक्षा क्यों नहीं की ? यह प्रसंग रामायण और विनयपत्रिका एवं अन्य अनेक प्रसंगों में दोहराया गया है। उसे दोहराते हुए कहा गया, गोस्वामीजी भी विनयपत्रिका में भगवान् राम से कहते हैं कि प्रभु, जब सामर्थ्य के होते हुए भी आप रक्षा न करें तो आपके प्रति उलाहने की भावना आना स्वाभाविक है :

यह सामरथ अछत तुम त्यागहु।

यह प्रश्न सुग्रीव का है। भगवान् राम ने पहले तो कह दिया कि तुम दोनों भाई एक-जैसे हो। सुग्रीव समझ गये कि मैं नकली ज्ञानी जो बन गया था किन्तु भगवान् तो असली ज्ञानी हैं इसलिए उनका ज्ञान तो मेरे लिए बड़े संकट का कारण बना। अतः सुग्रीव ने तुरत कहा कि महाराज, मेरा जो नकली ज्ञान था वह तो चला गया, अब मुझे वास्तविकता का बोध हो गया है :

मैं जो कहा रघुबीर कृपाला।
बन्धु न होइ मोर यह काला॥ ४/७/४

मैंने जो यह कह दिया था कि बालि मेरा बड़ा हितैषी है और मेरे लिए शत्रु-मित्र में कोई भेद नहीं है, सो बिलकुल झूठ है। यह बालि तो मेरा

काल है। भगवान् ने कहा कि फिर ठीक है। इसीलिए तो मैं आया हुआ हूं। तुम्हारा जो शत्रु है वह मेरा शत्रु है, इसे मैं स्वीकार करता हूं। यही भक्तिपक्ष की मान्यता है कि ईश्वर से हम इतना राग कर सकें, इतनी ममता जोड़ सकें कि यदि सचमुच हमारे प्रति अन्याय हो रहा हो तो हम उसके अन्तःकरण में प्रेरणा उत्पन्न कर सकें जिससे वह हमारा पक्ष लेकर अन्याय को विनष्ट कर दे। इसीलिए भगवान् राम पहले बल देकर सुग्रीव को भेजते हैं और उसके पश्चात् भी जब सुग्रीव अपनी सामर्थ्य और अपने छल-बल के द्वारा विजय प्राप्त नहीं कर पाते, तो अन्त में भगवान् राम बाण-प्रहार के द्वारा बालि का वध और सुग्रीव की रक्षा करते हैं। अतः इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भगवान् ने विषमता स्वीकार कर ली। लेकिन इससे घबराने की बात नहीं, क्योंकि कई लोगों के मन में फिर यह प्रश्न आ जाता है कि अगर भगवान् में ही पक्षपात है तो संसार में लोगों के पक्षपात की निन्दा क्यों की जाये! यदि हम लोग पक्षपात करते हैं तो भगवान् भी करते हैं, इसलिए बात तो एक ही है। इस अन्तर को हम समझ लें। हम लोगों का पक्षपात विशुद्ध स्वार्थ से प्रेरित होता है जबकि भगवान् द्वारा किया गया पक्षपात केवल व्यवहारगत होता है, परिणामगत पक्षपात नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि भगवान् सुग्रीव की रक्षा भले करें, बालि को भले ही दण्ड दें पर इतना होते हुए भी उनके मन में बालि के हित की भी उतनी ही चिन्ता है जितनी सुग्रीव के कल्याण की। इसीलिए सुग्रीव का हित करने के बाद यह संकेत दिया गया कि अगर भगवान् राम केवल सुग्रीव का ही हित चाहते होते तो उसकी रक्षा के निमित्त भगवान् बालि पर ऐसे बाण का प्रहार कर देते जिससे बालि की मृत्यु हो जाती। किन्तु बालि की छाती में बाण लगने के बाद जब वह व्याकुल हुआ तो भगवान् ने एक कार्य और किया। वे वृक्ष की आड़ छोड़कर बालि के सामने आकर खड़े हो गये। भगवान् द्वारा वृक्ष की आड़ छोड़ देने का सांकेतिक अभिप्राय यह है कि वे बालि के कल्याण के लिए, बालि के हित के लिए भी व्यग्र हैं। इसलिए जब भगवान् राम बालि के समक्ष आकर खड़े होते हैं तो उसके वेदान्त-ज्ञान ने भगवान् पर फिर आरोप लगा दिया कि मैं तो आपके विषय में कुछ और समझता था पर आप तो कुछ और ही निकले। भगवान् ने पूछा कि क्या हुआ? बालि ने कहा :

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।। ४/८/६

महाराज, अगर ब्रह्म सम है तो मेरे प्रति इतना विरोध और सुग्रीव के प्रति यह पक्षपात कैसा ? भगवान् श्री राम ने उसके प्रश्नों का उत्तर दिया और उस लम्बे प्रसंग के अन्त में यह संकेत दिया कि बालि भी भगवान् के चरणों का आश्रय ले लेता है। बालि भगवान् से कहता है :

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूं मैं पापी अन्तकाल गति तोरि।। ४/९

जब बालि शरणागति ग्रहण कर लेता है तो भगवान् राम ने जो व्यवहार सुग्रीव से किया था वही व्यवहार वे बालि से करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। बालि के मस्तक पर अपने कर-कमल को स्थापित करने के बाद वे कहते हैं :

सुनत राम अति कोमल बानी।
बालि सीस परसेउ निज पानी।।
अचल करौं तनु राखहु प्राना। ४/९/१

मैं तुम्हारे प्राणों की रक्षा करना चाहता हूं लेकिन इसका अभिप्राय यह है कि वह दण्ड तो तुम्हारे अहंकार का था। यदि तुम्हारे अन्तर का अहंकार नष्ट हो चुका है तो सच्चे अर्थों में मेरे समत्व का आनन्द तुम्हें तब मिलेगा जब तुम्हारे जीवन में भी समत्व आ जायेगा। अतः यों कहा जा सकता है कि सूर्य का प्रकाश सम है पर सूर्य के प्रकाश के समत्व का सचमुच अनुभव कब होगा ? सूर्य के प्रकाश के समत्व का अनुभव सब व्यक्तियों को समान नहीं हो सकता। यदि एक व्यक्ति कोयला और दूसरा व्यक्ति शीशा लेकर बैठ जाये तो सूर्य के प्रकाश में समानता नहीं दिखाई देगी। सूर्य का प्रकाश कोयले पर पड़ने पर उससे किसी तरह की चमक निकलती दिखाई नहीं देगी, जबकि शीशे पर सूर्य का प्रकाश पड़ने पर उससे परावर्तित चमक बहुत अधिक होगी। इसका अर्थ यह है कि यदि हमें भगवान् की समता का आनन्द लेना है तो स्वयं हमारे अन्तःकरण में भी समत्व का उदय होना चाहिए, भगवान् की कृपा को

ग्रहण करने की ऐसी पात्रता भी होनी चाहिए। अगर भगवान् इतने पर भी बालि को दण्ड देते तो यह कहा जा सकता था कि उनका पक्षपात ठीक हम लोगों के ही समान है। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् का वैषम्य भक्त की रक्षा के लिए है पर भक्त बनने की छूट प्रत्येक के लिए है। यह नहीं कि भक्त किसी देश-विशेष का ही बन सकता है और किसी अन्य देश का नहीं बन सकता, किसी जाति-विशेष का बन सकता है और अन्य जाति का नहीं बन सकता, अमुक व्यक्ति बन सकता है और अन्य व्यक्ति नहीं बन सकता। अतएव ईश्वर का पक्षधर बनना, ईश्वर का विषम बनना लोक-कल्याण की आवश्यकता है और इसके निमित्त भगवान् के अन्तःकरण में पक्षधरता की सृष्टि हो इसी के लिए वह वाटिका-प्रसंग है। इसी पुष्पवाटिका-प्रसंग में एक विशेष संकेत यह आता है कि लक्ष्मणजी ने भगवान् श्री राम का एक नये प्रकार का श्रृंगार किया जो रामायण में अन्यत्र कहीं नहीं है। भगवान् राम के सिर पर आपने स्वर्णमुकुट, हीरे से जड़ा हुआ मुकुट देखा होगा, पर उस वाटिका में जब भगवान् राम ने अपनी मनःस्थिति का वर्णन किया तो श्री लक्ष्मणजी ने भगवान् से अनुरोध किया कि आप चलकर थोड़ा विश्राम कर लें और लता-कुंज में ले जाकर वे भगवान् राम का एक नये प्रकार का श्रृंगार करते हैं। वह नये प्रकार का श्रृंगार ऐसा था कि लक्ष्मणजी ने फूलों की जो कलियां चुनी थीं उनसे भगवान् राम के केशों को सजा दिया और भगवान् राम के वहां आगमन पर जब आनन्द में उन्मत्त होकर मोर नाचने लगा तो उसका एक पंख गिर पड़ा था जिसे लक्ष्मणजी ने उठा लिया था और उसे भगवान् राम के शीश पर लगा दिया। भगवान् राम की झांकी में मोरपंख केवल पुष्पवाटिका-प्रसंग में ही है। जिस समय श्री राम लता-कुंज से प्रकट होते हैं वहां पर भी 'प्रगट' शब्द का ही प्रयोग किया गया है—**लता भवन तें प्रगट भे**। गतवर्ष कथा का समापन 'प्रगट' शब्द से किया गया था :

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी। १/१९१/१

अयोध्या में भी भगवान् राम के लिए 'प्रगट' शब्द का प्रयोग किया गया है और पुष्पवाटिका-प्रसंग में भी। इन दोनों प्रसंगों में, जब वे कौशल्याजी के सामने आते हैं तो गोस्वामीजी कहते हैं—**भये प्रगट**

कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी, और जब सीताजी के सामने आते हैं तो भी गोस्वामीजी कहते हैं—**लता भवन तें प्रगट भे** । साधारण कवि होता तो यही लिखता कि लता-कुंज से भगवान् राम निकल कर बाहर आये । भगवान् कृष्ण की एक झांकी में कवि ने वर्णन किया :

निकुंजन ते कढ़ि बाहर आयो ।

वे लता-कुंज में हैं अतः लताओं को हटाकर आयेंगे तो यही तो कहा जायेगा कि लताओं को हटाकर बाहर आये । किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि नहीं, लताओं को हटाकर बाहर नहीं आये, बल्कि—**लता भवन तें प्रगट भे** । और इसे आप पिछले प्रवचन से जोड़ दीजिए ।

साधना भक्ति के सामने पहले भगवान् राम अयोध्या में प्रकट हुए थे और सिद्धा भक्ति के सामने प्रकट हो रहे हैं जनकपुरी में । याद रखिए किसी के सामने प्रकट होनेवाले भगवान् उसी के लिए उपयोगी होंगे, और यदि हमें आवश्यकता है तो हमें भी भगवान् को प्रकट करना पड़ेगा । लेकिन कितने रूपों में प्रकट करना पड़ेगा ? लोग तो परेशान हो जाते हैं कि रामनवमी दो कैसे हो गई ! मैं तो कहता हूं कि यदि साल-भर रामनवमी रहे तो बहुत अच्छा हो । ये दो ही क्यों रहती हैं ? आखिर इसका अभिप्राय क्या है कि रामनवमी को भगवान् का प्राकट्य होता है ? जिस दिन जिसके जीवन में भगवान् राम प्रकट हो गये उसी दिन उसके लिए रामनवमी हो गई । रामनवमी की तिथि चाहे जब आये । वास्तविक रामनवमी तो तब आयेगी जिस दिन भगवान् राम हमारे जीवन में प्रकट होंगे । अतः पुष्पवाटिका की रामनवमी यह है, अयोध्या की रामनवमी वह है । इसके पश्चात् जब भगवान् राम लंका से लौटकर आये तब भी गोस्वामीजी 'प्रगट' शब्द का ही प्रयोग करते हैं । भगवान् से मिलने के लिए प्रत्येक अयोध्यावासी व्यग्र है । गोस्वामीजी के स्थान पर दूसरा कवि होता तो लिखता कि भगवान् राम ने हजारों रूप बना लिये । गोस्वामीजी बना लिये नहीं बल्कि कहते हैं :

प्रेमातुर सब लोग निहारी ।
कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ।।
अमित रूप प्रगटे तेहि काला । ७/५/४

भगवान् राम ने अमित रूप प्रकट किये। इसका अभिप्राय यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म अव्यक्त है लेकिन जो भक्ति और प्रीति के वशीभूत होकर दृष्टिगोचर होता है उसके लिए हम 'प्रगट' शब्द का प्रयोग करते हैं। रामायण में यह 'प्रगट' शब्द बड़ा सांकेतिक है, पर पुष्पवाटिका में 'प्रगट' होने और कौशल्याजी के सामने 'प्रगट' होने में कुछ अन्तर है। साधना भक्ति के सामने जब भगवान् राम प्रकट हुए तब उनका श्रृंगार दूसरे प्रकार का था और उसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने कहा :

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।

१/१९१/१

कौशल्या अम्बा की दृष्टि श्री राघवेन्द्र की आंखों की ओर गई और श्री राम की आंखों में दिव्य सौन्दर्य है। इस समय श्री राम की आंखों में दिव्य करुणा है, गोस्वामीजी उन्हें कृपालु श्री राम के रूप में प्रकट कर रहे हैं जो साधना भक्ति का पहला परिणाम है। साधना भक्ति में कौशल्याजी श्री राम के आगमन की, बालक के जन्म की प्रतीक्षा कर रही हैं और भगवान् श्री राम उनके सामने प्रकट होते हैं। किन्तु श्री सीताजी के प्रसंग में क्या हुआ ? श्री सीताजी तो आंख मूंदे खड़ी हैं और भगवान् राम प्रकट हो गये। इसमें संकेत यह है कि जब तक भक्ति का साधना पक्ष है तब तक हमें भगवान् को प्रकट करने का प्रयास करना पड़ता है, प्रतीक्षा करनी पड़ती है; किन्तु जब प्रेम परिपूर्ण हो जाता है तो भगवान् ही प्रतीक्षा करने लगते हैं कि भक्त जरा मुझे आंख खोलकर देख तो ले। और यही हुआ भी। अब तो अनोखी बात हो गई। पिछले प्रवचन के अन्त में कहा गया था कि हनुमानजी ने प्रभु से कहा कि प्रभु, पहले तो मैं यही समझता था कि जब आप निराकार से साकार हो गये तो पकड़ में आ गये, अत: आपके चरणों को कसकर पकड़ लेना चाहिए; पर मां ने कहा कि हनुमान कब तक चरण पकड़े रहोगे ? पकड़े रहने पर भी तो यह डर बना रहेगा कि कहीं चरण छूट न जायें, इसलिए ऐसा करो न कि भगवान् ही तुम्हें पकड़ लें जिससे छूटने का डर समाप्त हो जाये। क्योंकि अगर

जीव पकड़ेगा तो छूटने का डर सदा बना रहेगा पर ईश्वर पकड़ लेगा तो छूटने का डर समाप्त हो जायेगा। दादू से किसी ने कहा कि लोग कहते हैं कि भगवान् का नाम अहर्निश लेना चाहिए पर आपके हाथ में तो माला भी नहीं दिखाई देती। आप शायद मन-ही-मन उसका नाम जपते होंगे ? इसका उन्होंने बड़ा रसपूर्ण उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि भई, अब तो मेरे स्थान पर दूसरा भजन कर लेता है। यह पूछने पर कि क्या आपने किसी को वेतन पर नियुक्त कर रखा है, उन्होंने कहा कि नहीं :

माला जपौं न कर जपौं जिह्वा जपौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै मैं पावा बिस्राम॥

अब तो भगवान् ही मेरा जप कर लेते हैं। यह श्री भरतजी के प्रसंग के अनुरूप है। भरतजी की विशेषता है :

भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही॥ २/२१७/७

श्री राम भरत के नाम का जप कर लेते हैं। कबीर कहते हैं, आज स्थिति यह हो गई है कि निश्चिन्तता मन में आ गई है, क्योंकि :

मन ऐसा निर्मल भया जैसे गंगा नीर।
पाछें पाछे हरि फिरै कहत कबीर कबीर॥

अब मुझे चिन्ता नहीं। कैसी अनोखी बात है कि श्री सीताजी नेत्र मूंदे खड़ी हैं, और भगवान् राम प्रकट हो गये। श्री सीताजी नेत्र मूंदकर भी भगवान् के ही दिव्य सौन्दर्य-रस में डूबी हुई हैं। गोस्वामीजी ने वहां शृंगार रस और भक्ति रस का ऐसा अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है जिसकी किसी अन्य प्रसंग से तुलना करना कठिन मालूम पड़ता है। गोस्वामीजी शान्त रस की पृष्ठभूमि में शृंगार की सृष्टि करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अशान्त मनवाले लोगों के अन्तःकरण में जब शृंगार का उदय होता है तो उनके अन्तःकरण की वासना उन्हें उच्छृंखल बना देती है जो पतन की ओर ले जानेवाली है। ईश्वर शान्त रस में स्थित है और भक्ति के द्वारा उसको शृंगार रस में स्थित कराया जायेगा तो शान्त ब्रह्म में जब

शृंगार का उदय होगा, राग का उदय होगा, प्रीति का उदय होगा, क्षोभ का उदय होगा तो उसका परिणाम यह होगा कि उसके और हमारे बीच रागात्मक सम्बन्ध जुड़ जायेगा। और यही यहां पर हुआ भी। गोस्वामीजी ने भक्ति और साधना का एक सांकेतिक क्रम लिखा है, उस क्रम को समझ लीजिए कि किस प्रकार शान्त रस की पृष्ठभूमि में धीरे-धीरे शृंगार रस का आगमन होता है। पहली बात तो यह कि भगवान् राम और श्री सीताजी का पुष्पवाटिका में मिलन हुआ। भगवान् राम हैं साक्षात् ब्रह्म और श्री सीताजी हैं मूर्त्तिमती भक्ति और उनका मिलन होता है अमराई में, पुष्पवाटिका में। इससे गोस्वामीजी का सांकेतिक तात्पर्य यह है कि अगर हम भी अपने जीवन में ऐसा चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि इन दोनों का मिलन हो तो निश्चित समझ लीजिए कि जब तक भगवान् राम और श्री सीताजी का मिलन नहीं होगा तब तक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होगा। इसे चाहे यों कह लीजिए कि जब तक भगवान् से भक्ति का मिलन नहीं होगा तब तक हमारी समस्या का समाधान नहीं होगा। अगर हम भगवान् और भक्ति का मिलन देखना चाहते हैं तो पुष्पवाटिका में जायें। गोस्वामीजी बता चुके हैं कि पुष्पवाटिका क्या है :

संत सभा चहुं दिसि अवंराई। १/३६/१२

अर्थात् ईश्वर और भक्ति अभिन्न भले ही हों पर सन्त-समाज में जाने पर ही उनकी अभिन्नता का बोध होता है, अभिन्नता की अनुभूति होती है, इसलिए सन्त-समाज का प्रतीक है यह पुष्पवाटिका। महर्षि विश्वामित्र के आदेश से भगवान् श्री राम यहां आये हुए हैं और मालियों से आज्ञा लेकर फूल चुन रहे हैं। इसका सांकेतिक तात्पर्य है कि यह वाटिका सिद्धा भक्ति की है, श्री सीताजी की वाटिका है और इस वाटिका के सुमन दोनों अर्थों में हैं। सुमन का एक अर्थ फूल है और दूसरा अर्थ है सुन्दर मन। अतः भगवान् श्री राम यदि कोई सुन्दर खिला हुआ मन देखते हैं, विकसित मन देखते हैं तो उसे ग्रहण करने के लिए, लेने के लिए स्वयं पुष्पवाटिका में पधार जाते हैं। इस प्रकार भक्तिदेवी जिस वाटिका में नित्य आती हैं, और सन्त-समाज की प्रतीक जो वाटिका है उस वाटिका में ईश्वर का आगमन हुआ और उसके पश्चात् श्री सीताजी आईं। श्री सीताजी हैं सिद्धा भक्ति। उनके लिए

साधना की कोई आवश्यकता नहीं पर उन्होंने अपने चरित्र के माध्यम से कैसे जीवन में भक्ति का उदय होता है और भक्ति का उदय होने के पश्चात् कैसे भगवान् की प्राप्ति होती है और कैसे भगवान् में राग का उदय होता है, इसका पूरा सांकेतिक परिचय अपने कार्यक्रम के द्वारा दिया। अत: सर्वप्रथम श्री सीताजी सखियों के साथ आती हैं। अन्त:-करण में उठनेवाली उदात्त भावनाएं ही ये सखियां हैं। यों आठ सखियों की चर्चा की जाती है कि श्री सीताजी की मुख्य रूप से आठ सखियां हैं। इसका अभिप्राय है कि भक्ति की सहायिका जो मुख्यत: आठ भावनाएं हैं वही आठ सखियां हैं। उन अष्ट सखियों से घिरी हुई श्री सीताजी वाटिका में आती हैं और आते ही उस वाटिका के ठीक बीचों-बीच जो सरोवर है उसमें स्नान करती हैं :

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता। १/२२७/५

इसलिए मानो क्रम यह है कि अगर ईश्वर को पाना है, ईश्वर को खोजना है तो पहले वाटिका में चलें और चलकर स्नान करें। वाटिका है सन्त-समाज और सरोवर क्या है? गोस्वामीजी अरण्यकाण्ड में सरोवर की तुलना संत-हृदय से करते हैं :

सन्त हृदय जस निर्मल बारी। ३/३८/७

इसका अभिप्राय है कि जैसे व्यक्ति धूप से संत्रस्त होकर किसी छायादारी वृक्ष के नीचे चला जाये तो उसे बड़े सन्तोष का अनुभव होता है, इस प्रकार संसार के ताप से संतप्त होकर जब वह सन्त-रूपी वृक्ष के आश्रय में जाता है तो मानो उस धूप-ताप से बच जाता है। किन्तु इसकी सार्थकता तो तब है जब हम ऐसी चेष्टा करें कि उस वाटिका में जो सरोवर है—सन्त का हृदय—उसके हृदय में हमारा प्रवेश हो जाये। पहले हमें सन्त का आश्रय मिले और उसके पश्चात् हम सन्त के हृदय में प्रवेश पा लें। सन्त के हृदय में जब कोई व्यक्ति प्रवेश पा लेता है तो उसका फल यह होता है कि जैसे सरोवर में स्नान करने से शरीर स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार से सन्त जिसे अपने हृदय में स्थान दे देते हैं वह परम स्वच्छ हो जाता है। श्री सीताजी ने साधना के इस क्रम का परिचय दिया :

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता । १/२२७/५

और स्नान करने के बाद जाना चाहिए पार्वतीजी के मन्दिर में । सबके लिए यही क्रम है किन्तु श्री सीताजी के लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं, पर हम लोगों के लिए आवश्यक है । श्री सीताजी ने तो आवश्यक न होते हुए भी क्रम का परिचय देने के लिए उसे स्वीकार कर लिया । आप जानते ही हैं कि पार्वतीजी मूर्त्तिमती श्रद्धा हैं :

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ।। १/०/२

इसका अभिप्राय है कि सत्संग होने के बाद, चरित्र निर्मल होने के बाद अगर अन्तःकरण में श्रद्धा नहीं आयेगी तो हम भगवान् की ओर नहीं बढ़ सकेंगे । इसलिए क्रम यह है—सत्संग, निर्मलता और निर्मलता के पश्चात् अन्तःकरण में श्रद्धा । तत्पश्चात् श्री सीताजी पार्वतीजी का पूजन करती हैं । प्रश्न उठता है कि श्री सीताजी ने किस विधि से पार्वतीजी का पूजन किया ? वे तो राजकुल में जन्मी हैं, न जाने पूजन के कितने प्रकार, और विधियां और नाना प्रकार की वस्तुएं श्री सीताजी के साथ पूजन के लिए आई हुई हैं, किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि उन्होंने केवल एक ही वस्तु का नाम लिया । उन्होंने न चन्दन का, न पुष्प का, न धूप का, न दीप का, न नैवेद्य का, न वस्त्र का और न आभूषण का नाम लिया :

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा । १/२२७/६

बल्कि श्री सीताजी ने अधिक अनुराग से पूजन किया । तात्पर्य यह कि पंचोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार ये सबके पास हों चाहे न हों पर यह देख लीजिए कि अनुराग की सामग्री आपके पास है या नहीं । अगर अनुराग है तो पूजा पूरी है । क्योंकि रामायण का एक सीधा-सा सिद्धान्त है :

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । ७/६१/१

भगवान् बिना अनुराग के प्राप्त नहीं होंगे । तो क्रम देखिए—सत्संग, निर्मलता , मन की निर्मलता, श्रद्धा, अनुराग । और फल तुरत मिल

गया। एक सखी जो वाटिका में घूमने के लिए आई हुई थी, उसने भगवान् को देख लिया और उन्हें देखकर भावरस में, आनन्द में डूब गई और विह्वल आंखों में आंसू लिये हुए उक्त सखी जहां श्री सीताजी सखियों के साथ पूजा कर रही थीं वहीं आ गई। यहां एक सांकेतिक क्रम की ओर और संकेत कर दिया जाये। श्री सीताजी ने पार्वतीजी का पूजन करके उनसे वरदान मांगा :

निज अनुरूप सुभग बरु मागा ॥ १/२२७/६

श्री सीताजी वरदान मांग रही हैं श्रद्धा से। और पार्वती हैं कामारि की पत्नी, कामारि की प्रिया, जिन्होंने काम को जला दिया था। अतः जिनके पति कामदेव को जला देनेवाले हैं पार्वतीजी उन्हीं से विवाह का, कामना-पूर्त्ति का वरदान मांग रही हैं। इसका अभिप्राय क्या है? पार्वतीजी के हृदय में दिव्य श्रद्धा की जो भावना है, श्रद्धा की जो कसौटी है वह यह है कि कामदेव के भस्म हो जाने के बावजूद पार्वतीजी भी तो शंकरजी से विवाह के लिए तप कर रही थीं। अतः सप्तर्षियों ने जाकर पार्वतीजी से कहा कि आपने एक समाचार सुना :

अब भा झूठ तुम्हार पन...। १/८९

अब आपका प्रण झूठा हो गया, क्योंकि **जारेउ कामु महेस**—अब तो शंकरजी ने काम को जला दिया। अतः आपने व्यर्थ शरीर को इतना सुखाया और तपस्या की। विवाह का मुख्य आधार तो काम है, और जब काम जल गया तो विवाह का कोई अर्थ ही नहीं रह गया। सप्तर्षियों को विश्वास था कि यह समाचार सुनकर पार्वतीजी उदास हो जायेंगी कि मैंने व्यर्थ ही इतनी तपस्या की। तात्पर्य यह कि कामना-पूर्त्ति के लिए अगर हम कोई प्रयास करें और लगे कि सामनेवाले ने उसे पूर्ण करने के स्थान पर विनष्ट कर दिया तो दुःख होना स्वाभाविक है। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। पार्वतीजी सुनकर हंसने लगीं। पार्वतीजी ने हंसकर कहा कि लगता है यह समाचार आपको देर में मिला, मुझे तो पहले ही मिल चुका है। सप्तर्षियों को आश्चर्य हुआ कि अभी तो तत्काल मदन-दहन हुआ है और हम लोग तुरत आ गये। उन्होंने पूछा कि आपको यह समाचार कब मिला और किसने बताया? पार्वतीजी ने मुस्कराकर कहा कि यह समाचार मुझे बहुत पहले से, अनादि काल

से ज्ञात है :

हमरें जान सदा सिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी ।। १/८९/३

मैं तो भगवान् शंकर को सदा से निष्काम मानती रही हूं, आप ही लोग शायद उन्हें कामी मानते थे, किन्तु अब आपको सन्तोष हो गया होगा कि उन्होंने काम को जला दिया। मेरे मन में कोई भ्रम थोड़े ही था। मैंने तो अकाम मानकर ही उन्हें पाने की चेष्टा की थी। यह विचित्र बात है! निष्कामता और सकामता का ऐसा अद्‌भुत समन्वय! पार्वतीजी चाहती हैं पति-रूप में काम को भस्म कर देनेवाले को। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कहा, महाराज, अन्तर इतना ही है कि काम जब तक दूर था तभी तक बचा हुआ था, वह निकट गया तो जल गया। इस प्रकार कामारि की पत्नी जो काम के जल जाने पर भी शिव को पाने के लिए ही व्यग्र हैं, उन्हीं से श्री सीताजी पति की याचना कर रही हैं। और याचना करने का अभिप्राय है कि पार्वतीजी कामारि की प्रिया हैं इसलिए यदि वे अन्त:करण में अनुराग देंगी तो अपने समान ही अनुराग देंगी, ऐसी प्रीति देंगी जिसमें कामना का अभाव हो, ऐसा काम जो निष्काम हो। यही भक्ति का दर्शन है और इसी का संकेत आगे चलकर मिलता है। सखी ने देखा वह प्रेम-विह्वल सखी आंसू बहा रही है। यह सखी ईश्वर का साक्षात्कार करनेवाले आचार्य की, सन्त की, भक्त की प्रतीक है और पूजा का फल तुरन्त मिल गया। सखियों ने चारों ओर से उस नई सखी को घेर लिया और पूछने लगीं, तुमने ऐसा क्या पा लिया जो तुम्हारी आंखों से आंसू बह रहे हैं? रामायण में तो दोनों तरह से आंखों से आंसू बहने की बात आती है। भक्त जब दर्शन करने जाते हैं तो आंसू बहाते हुए क्यों जाते हैं? इस सम्बन्ध में गीतावली रामायण में गोस्वामीजी ने कहा कि जैसे कोई अमृत लेकर आये और हमारे पास कोई बर्तन हो जो खारे जल से भरा हुआ हो, तो ऐसी स्थिति में हम उस खारे जल को फेंककर अमृत ले लेंगे। भगवान् का रूप है अमृत और आंखों में आंसुओं के रूप में खारा जल भरा हुआ है, इसलिए उस अमृत को धारण करने के लिए भक्त लोग आंसू बहाते हुए जाते हैं। जिससे यह कलसी खाली हो जाये तो उसमें अमृत रख सकें।

सांवरो रूप सुधा भरिबे कहं।
नयन कमल कलश... ।। गीतावली, १/७७

अतः भक्त जाते समय आंसू बहाते हैं पर यह सखी तो लौटते समय भी आंसू बहा रही है। अब आंसू बहाने की क्या आवश्यकता है, अब कलसी को खाली करने की क्या आवश्यकता है? इस पर भक्त और प्रेमी कहते हैं कि नहीं, पहले जो आंसू बहाये गये वे दुःख के खारे आंसू थे और बाद के आंसू आंसू नहीं हैं। अगर कलसी छोटी है और अमृत अधिक भर दिया जाये तो बाहर छलके बिना नहीं रहेगा, इसलिए यह भगवान् का सौन्दर्य ही इस समय अमृत के रूप में छलक रहा है, बह रहा है। सखियां देखती हैं और विभोर हो जाती हैं। वे कहती हैं कि यह जो प्रवाहित हो रहा है, यह जो आनन्द-रस बह रहा है, उसमें तुमने क्या पा लिया? सच-सच बताओ, तुमने क्या पाया? तब उसने ईश्वर का सांकेतिक वर्णन किया अनिर्वचनीयता के साथ-साथ:

देखन बागु कुअंर दुइ आए।
बय किसोर सब भांति सुहाए।।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। १/२२८/१

× ×

सिय हियं अति उतकंठा जानी।। १/२२८/३

सत्संग, मन की निर्मलता, श्रद्धा, अनुराग और कथा-श्रवण का फल क्या होना चाहिए—उत्कंठा—**सिय हियं अति उतकंठा जानी**। सीताजी के मन में उत्कंठा हुई कि जिसका वर्णन सुना है उसे मैं देखूं तो। अतः ईश्वर के विषय में भी जो सगुण-साकार के सौन्दर्य का प्रचार किया जाता है उसका अभिप्राय यह है कि जीव के हृदय में ईश्वर को देखने की उत्कठा जाग्रत हो। किन्तु उत्कण्ठा जाग्रत होने के पश्चात् भी श्री सीताजी संकोचवश अपनी उत्कण्ठा को व्यक्त नहीं कर पातीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे अपने मन की उत्कण्ठा को लोगों के सामने बार-बार प्रकट नहीं करना चाहतीं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने अन्तःकरण में आनेवाले भावों का दूसरों के सामने बार-बार बखान कर उन्हें हलका कर देते हैं पर श्री सीताजी उन भावों को अन्तःकरण में छिपाये हुए हैं। इसलिए सखियों ने श्री सीताजी की उत्कण्ठा

को समझ लिया क्योंकि वे तो भक्तिभाव की सहायिका सखियां हैं, अत: वे उसमें तुरत सहायता देती हैं। श्री राम का वर्णन करते हुए सखियों ने कहा कि **अवसि देखिअहिं देखन जोगू**। इसका अभिप्राय है कि ऐसे लोगों का संग करना चाहिए जो ईश्वर की ओर बढ़ने में सहायक बनें, बाधक न बनें। इसके पश्चात् श्री सीताजी व्याकुल होकर जिस सखी ने भगवान् राम का दर्शन किया था उसे आगे कर स्वयं उसके पीछे-पीछे चल पड़ीं। श्री सीताजी के अन्त:करण में पूर्व-राग का उदय हो चुका है। इधर श्री सीताजी चलीं और उनके शरीर पर जो आभूषण थे वे बज उठे :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। १/२२९/१

कितनी मधुर बात गोस्वामीजी ने लिखी कि उन आभूषणों की ध्वनि भगवान् राम के कानों में पहुंच गई। प्रश्न यह है कि हम ईश्वर की ओर चलेंगे तो उसे इसका पता भी चल रहा है या नहीं? हम लोग इतना स्तोत्र-पाठ करते हैं किन्तु उसको सुनाई भी दे रहा है या नहीं? यहां कबीरदास और गोस्वामीजी की बात मिल गई। कबीर से किसी ने पूछा कि महाराज, भगवान् कितने जोर से बोलने पर सुनते हैं? उन्होंने कहा :

चींटी के पग नूपुर बाजे वह भी साहब सुनता है।

अर्थात् चींटी यदि उनकी दिशा में चलने की चेष्टा करे तो उसकी पग-ध्वनि भी उनके कानों में पहुंच जाती है। किन्तु किस भाषा में भगवान् की प्रार्थना करें? भाषा को लेकर बड़ा झगड़ा होता है। गोस्वामीजी ने कहा कि श्री सीताजी चलीं तो उनके आभूषणों की ध्वनि उनके कानों में पहुंच गई। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर तक प्रार्थना पहुंचाने के लिए भाषा का प्रश्न नहीं है। आपके पग उठाते ही नूपुर की ध्वनि ईश्वर के कानों में पहुंच जायेगी। आप पैर तो उठाइये, चलिये तो। श्री सीताजी के दिव्य शरीर पर ये जो स्वर्ण के आभूषण दिव्य नाद करते हुए बज रहे हैं उनकी ध्वनि भगवान् राम तक पहुंच गई। श्री सीताजी ने अभी उन्हें नहीं देखा पर आगमन की ध्वनि उन्होंने सुन ली और सुनते ही प्रभु ने अपने अन्त:करण में बदलाव का अनुभव किया। निर्गुण-निराकार ब्रह्म कवि नहीं है। कवि तो बड़ा सरस हृदय,

भावुक होता है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म में कवित्व और सरस भावुकता तो है नहीं। भगवान् राम जब अयोध्या में आये तो उनके हृदय में कोमलता आ गई पर कवित्व का उदय तो जनकपुर में आकर ही हुआ। भगवान् राम जनकपुर की उस वाटिका में श्री सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनकर कवि बन गये। और कवि बन जाने के बाद ईश्वर के हृदय में वह ध्वनि ऐसी प्रविष्ट हुई कि वह काव्य के रूप में निकल पड़ी। भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा :

मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहं कीन्ही ॥ १/२२९/२

लक्ष्मण, लगता है कामदेव वाद्य बजाता हुआ मेरे ऊपर आक्रमण करने के लिए आ रहा है। उसने सोचा होगा कि संसार में अकेले-अकेले लोगों को हराने से क्या लाभ, यदि विश्व-रूप माने जानेवाले राम को ही हरा दूं तो सारे विश्व की पराजय हो जायेगी। लक्ष्मण से कहने का तात्पर्य है कि वे मूर्त्तिमान वैराग्य हैं और काम के आक्रमण से रक्षा करनेवाला भी वैराग्य है। जिसके जीवन में वैराग्य हो वह काम के आक्रमण से सुरक्षित है। भगवान् राम मानो लक्ष्मण से कहते हैं कि काम आक्रमण करने के लिए आ रहा है, लक्ष्मण बचाओगे न ? लेकिन सदा गर्जना करनेवाले लक्ष्मणजी यदि कहीं बिलकुल चुप्पी साध गये तो पुष्पवाटिका में। वे बिलकुल नहीं बोले। अन्यथा भगवान् राम अगर उत्साहित न हों तो उन्हें प्रेरित करते रहते हैं। लक्ष्मणजी को तो यह कहना चाहिए था कि महाराज, आप पर काम आक्रमण करके क्या करेगा ? किन्तु लक्ष्मणजी के चुप्पी साध लेने का कारण यह है कि वे तो अन्तरंग रहस्य को जाननेवाले हैं। अतः उन्होंने कहा कि जब काम भक्तिदेवी के चरणों का आश्रय लेकर आ रहा है तो उससे हार जाने में भी शोभा है, उससे आपके जीतने में शोभा नहीं है। इसलिए इस प्रसंग में मैं नहीं बोलूंगा। इसका अभिप्राय है कि सांसारिक काम से तो वैराग्य रक्षा करेगा पर जो काम भक्तिदेवी की कृपा से, भक्तिदेवी का आश्रय लेकर, भक्ति के माध्यम से आ रहा है उसे स्वीकार करने का प्रश्न कहां उठता है ! जब भगवान् राम ने श्री सीताजी के धीरे-धीरे उभरते स्वरूप को देखकर कहा कि मेरे मन में क्षोभ का उदय हो गया है तो लक्ष्मणजी उनको लता-कुंज में ले गये। इधर श्री सीताजी

आती हैं और जब भगवान् राम दिखाई नहीं देते तो अत्यन्त व्याकुल हो उठती हैं। श्री सीताजी को व्याकुलता को देख सखियों ने इंगित किया कि वे हैं लता-कुंज में भगवान् राम। गोस्वामीजी ने क्रम बताया कि जैसे किसी अतिथि का स्वागत करने के लिए आप सुन्दर मार्ग बनाते हैं, उसके स्वागत के लिए खड़े हो जाते हैं, इसी प्रकार श्री सीताजी ने अपने नेत्रों द्वारा भाव की पुष्प-वर्षा करते हुए भगवान् राम के लिए मार्ग बनाया :

जहं बिलोक मृग सावक नैनी।
जनु तहं बरिस कमल सित श्रेनी॥ १/२३१/२

श्री सीताजी जिस ओर दृष्टि उठाकर देखती हैं ऐसा लगता है कि कमल के पुष्पों की वर्षा हो गई, श्वेत कमल बरस पड़े। भगवान् राम के लिए पुष्पों का मार्ग बन गया। तदुपरान्त जब सखियों ने दिखाया कि वे हैं श्री राम तो उन्हें प्रभु दिखाई पड़ने लगे पर लता-कुंज की आड़ से दिखाई दे रहे थे। अतः श्री सीताजी ने निर्णय किया कि जब नेत्र खोलकर देखूंगी तो यही दिखाई देगा कि हमारे और प्रभु के बीच में लता का व्यवधान है। हमारे और प्रभु के बीच में जब तक व्यवधान बना हुआ है तब तक भक्तिरस की पूर्णता कहां आयेगी ? इस व्यवधान को मिटाने के लिए श्री सीताजी ने :

लोचन मग रामहि उर आनी। १/२३१/७

प्रभु का स्वागत किया, पलकें उठ गईं और वे नेत्र-मार्ग से उन्हें अपने हृदय-मन्दिर में ले आईं। गोस्वामीजी ने श्रृंगार रस को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया और ऐसा अशरीरी श्रृंगार जिसमें कहीं अश्लीलता का लेश नहीं, शरीर नहीं है पर मिलन की पराकाष्ठा है। आप अतिथि को घर लाने के पश्चात् उसका सत्कार करते हैं, उसका पूजन करते हैं, उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। जब श्री सीताजी भगवान् राम को हृदय-मन्दिर में ले आईं तो गोस्वामीजी से किसी ने कहा कि हृदय-मन्दिर में ले आने के बाद श्री सीताजी ने पूजन कैसे किया, यह भी तो जरा बता दीजिए। पार्वतीजी का पूजन तो आपने बता दिया पर हृदय में श्री राम का पूजन कैसे किया जाता है, यह तो बताइये। गोस्वामीजी तुरत मधुर श्रृंगार की कल्पना करते हुए कहते हैं :

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।। १/२३१/७

उसके बाद तो पलकों के किवाड़ बन्द हो गये, पूजन कैसा हुआ यह मैं देख ही नहीं पाया। जहां पर प्रभु और प्रियतम हैं वहां पर किसी और का प्रवेश नहीं है। दिव्य परिपूर्ण मिलन, बिना शरीर के जो पूर्ण मिलन है उसके सम्बन्ध में कबीरदास जी कहते हैं:

पलकन की चिक डारिके प्रियतम लिया रिझाय।

श्री सीताजी के नेत्र-मन्दिर में, हृदय-मन्दिर में भगवान् राम हैं और वहां श्री सीता-राम का दिव्य मिलन हो रहा है। लेकिन कहने की बात यह थी कि भगवान् श्री राम उसी समय लता-कुंजसे बाहर निकल आये। क्योंकि भगवान् राम को लगा कि अरे, ये तो भीतर ही मुझे पा लेंगी तो बाहरवालों के लिए मेरी उपयोगिता ही नहीं रह जायेगी। इसलिए जब भगवान् राम बाहर प्रकट हुए तो सखियों ने तुरत श्री सीताजी से कहा कि अरे, यह तो नई बात हो गई। लोग चाहते हैं और ईश्वर प्रकट नहीं होता और यहां आपकी प्रीति के वशीभूत होकर ईश्वर प्रकट हो गया, जरा नेत्र खोलकर देखिए तो! यहां पर गोस्वामीजी ने शृंगार के साथ वात्सल्य की सृष्टि करके एक अभूतपूर्व चमत्कार कर दिखाया। जब श्री सीताजी भगवान् राम को भीतर देख ही रही हैं तो नेत्र खोलकर बाहर देखने की क्या आवश्यकता है? भीतर ही क्यों न देखें, बाहर क्यों देखें? गोस्वामीजी ने अन्तर बताया कि नहीं, आवश्यकता है। श्री सीताजी जब नेत्र मूंदकर देख रही थीं तो केवल भगवान् राम दिखाई दे रहे थे पर जब नेत्र खोलकर देखा:

सकुचि सीयं तब नयन उघारे।
सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे।। १/२३३/३

तो श्री राम के साथ-साथ लक्ष्मण पर भी दृष्टि चली गई। भक्तों ने कहा कि मां, प्रेम में डूबने के पश्चात् भी बालक पर आपकी दृष्टि पड़े, आप प्रियतम के प्रेम में ही न डूबी रहें अपितु जीव पर भी आपकी दृष्टि बनी रहे। आप नेत्र बन्द करती हैं तो केवल प्रियतम को देखती हैं और खोलती हैं तो हम लोगों पर भी दृष्टि पड़ जाती है, इसलिए जीव पर भी आपकी दृष्टि पड़े अतः आप भी जरा बाहर

आ जाइये, अन्तर्मुख मत रहिए। भक्तिदेवी स्वयं भीतर से निकलकर बाहर आ जाती हैं और जब देखती हैं तो श्री राम के साथ लक्ष्मण दिखाई देते हैं। यह एक नई बात दिखाई पड़ी, जो भीतर नहीं दिखाई दे रहा था वह बाहर दिखाई पड़ा। सीताजी ने ज्यों ही नेत्र खोलकर देखा तो भगवान् राम के सिर पर दृष्टि पड़ी और सबसे पहले दिखाई पड़ा :

मोर पंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।। १/२३२/२

भगवान् राम के सिर पर मोरपंख बंधा हुआ था। श्री सीताजी समझ गईं। यह लक्ष्मणजी का संकेत था कि अब तक ब्रह्म निष्पक्ष से पक्ष-वाला बना तो था अवतार लेकर, किन्तु आज तो खुली घोषणा हो गई पक्षधरता की। अब माथे पर आपकी वाटिका का मोरपंख धारण करके उसने स्वीकार कर लिया कि आज से मुझे निष्पक्ष ब्रह्म मत समझना, मैं पक्षधर हो गया। अब मेरी पक्षधरता प्रसिद्ध हो गई। यह पक्षधरता तभी होती है जब वे भक्तिदेवी के सामने आते हैं पर ध्यान रखिएगा, भगवान् राम ने पक्ष भी धारण किया तो मोर का जबकि वहां कई पक्ष थे :

चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा।। १/२२६/६

चातक का पंख क्यों नहीं बांधा, कोकिल का क्यों नहीं बांधा, कीर-चकोर का क्यों नहीं बांधा और मोर का क्यों बांध लिया ? बात यह है कि चातक, कोकिल, कीर, चकोर भगवान् राम को देखकर गाते रहे और मोर नाचने लगा तो उसका पंख गिर पड़ा। लक्ष्मणजी ने उसे उठा लिया। इसका तात्पर्य यह है कि जो अपना पक्ष पकड़े हुए है भगवान् उसका पक्ष नहीं लेते और जो अपने पक्ष का त्याग कर देगा प्रभु उसी का पक्ष सिर पर धारण करेंगे। यही प्रभु की पक्षधरता है। हमें तो निष्पक्ष नहीं पक्षधर ईश्वर चाहिए, जो हमारा पक्ष लेकर हमारे कष्ट का निवारण कर सके।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

७

पुष्पवाटिका में गोस्वामीजी ने जिस विलक्षण श्रृंगार की सृष्टि की है और उस श्रृंगार के साथ उन्होंने वात्सल्य और करुणा को जोड़कर जो एक सर्वथा नया प्रयोग किया है, हम उसके तत्त्व पर विचार करें। उस वाटिका-प्रसंग में भगवान् श्री राम और आद्याशक्ति भगवती श्री सीता एक-दूसरे के सौन्दर्य को देखकर अनुराग-रस में डूब जाते हैं। दोनों की दृष्टि अगर श्री सीताजी का मुख चन्द्रमा है तो भगवान् श्री राम के नेत्र चकोर बन चुके हैं और यदि श्री राम का मुख चन्द्र है तो श्री सीताजी :

सरद ससिहि जनु चितव चकोरी। १/२३१/६

इस तरह से दोनों के ही अन्तःकरण में एक-दूसरे के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण-अनुराग का वर्णन किया गया है। किन्तु इस वर्णन को यदि शुद्ध श्रृंगार रस की दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है कि श्रृंगार की पूर्णता में कुछ व्यवधान पड़ा है। तात्पर्य यह कि श्रृंगार के परिपाक के लिए जिस तरह के वातावरण की अपेक्षा थी, उस वातावरण में गोस्वामीजी ने कुछ ऐसी बातें रखी हैं जो श्रृंगाररस के अनुकूल नहीं हैं। इसे यों कहा ज़ा सकता है कि गोस्वामीजी यदि कवि-मात्र होते और उनकी दृष्टि शुद्ध रसपरक होती तो वे रस की परिपूर्णता तक प्रसंग को पहुंचाने का प्रयास करते। लेकिन वे कवि भी हैं और भक्त भी किन्तु उनमें भक्त-पक्ष की ही मुख्यता है, इसलिए उन्होंने इस श्रृंगार के साथ जिस वात्सल्य और करुणा का मिश्रण किया है, वह उनकी भक्ति-सम्बन्धी मान्यता का द्योतक है। आइये, संक्षेप में उसी पर विचार करें। भगवान् श्री राम लता-कुंज से श्री सीताजी का सौन्दर्य देख रहे हैं। अचानक सखियों की दृष्टि उन पर पड़ी और उन्होंने लता-कुंज की आड़ में खड़े हुए भगवान् श्री राम की ओर श्री सीताजी का ध्यान आकृष्ट किया। श्री सीताजी नेत्र-मार्ग से उनके सौन्दर्य को

अपने हृदय-मन्दिर में ले आती हैं और पलकों के कपाट बन्द कर लेती हैं। ठीक उसी समय भगवान् श्री राम भी लता-कुंज से प्रकट हुए और सखियों ने श्री सीताजी से कहा, उन्हें संकोच न हो इसलिए ऐसा कह दिया, कि लगता है आप नेत्र मूंदकर पार्वतीजी का ध्यान कर रही हैं। पार्वतीजी का ध्यान तो फिर भी किया जा सकता है, इस समय आप जरा दृष्टि तो डालिये। श्री सीताजी ने सखियों की बात सुनकर संकोच-भरे नेत्र खोले। अब यदि शुद्ध शृंगार रस के परिपाक की दृष्टि से देखें तो गोस्वामीजी को यही लिखना चाहिए था कि श्री सीताजी ने नेत्र खोलकर श्रीराम को देखा, प्रभु का दर्शन किया, उनके सौन्दर्य का साक्षात्कार किया और उस दिव्य सौन्दर्य में डूब गईं। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री सीताजी ने जब नेत्र खोलकर देखा तो उन्होंने सामने दो राजकुमारों को खड़े पाया। अर्थात् श्रीराम के साथ लक्ष्मण को भी देखा। पिछले प्रवचन में जो चर्चा चल रही थी उसे मैं थोड़ा और स्पष्ट कर दूं। इसका तात्पर्य है कि यहीं पर गोस्वामीजी ने शृंगार के साथ-साथ वात्सल्य को जोड़ दिया। क्योंकि श्री सीताजी जब भगवान् राम को देखती हैं और उनके साथ-साथ लक्ष्मण पर भी उनकी दृष्टि पड़ती है तो क्या वे दोनों को एक ही दृष्टि से देखती हैं? यह सम्भव नहीं। उनकी भगवान् राम के प्रति प्रियतम की रसमयी भावना है और लक्ष्मण के प्रति शुद्ध वात्सल्य भाव है। ऐसी स्थिति में जब श्री सीताजी दोनों को देखेंगी तो स्वभावतः दृष्टि में भी पार्थक्य होगा। ठीक यही समस्या उस समय श्री सीताजी के समक्ष आती है जब वन-पथ में भगवान् राम-लक्ष्मण विराजमान थे और गांव की स्त्रियों ने श्री सीताजी से प्रश्न किया कि देवि, कृपा करके यह बताइये कि ये दोनों राजकुमार आपके कौन हैं। यह सुनकर कुछ क्षणों तक तो श्री सीताजी उनके प्रश्न का उत्तर भी नहीं दे पाईं:

तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुं सकोच सकुचति बरबरनी॥ २/११६/३

श्री सीताजी राघवेन्द्र और श्री लक्ष्मण की ओर देखकर पृथ्वी की ओर दृष्टि झुका लेती हैं, जिससे ऐसा लगता है मानो प्रश्न सुनकर वे संकोच से गड़ी जा रही हों। पर गांव की स्त्रियां, ग्राम-वधूटियां

तो उत्तर सुनने के लिए व्यग्र हैं और फिर श्री सीताजी दोनों का परिचय देती हैं। दोनों का परिचय देते समय गोस्वामीजी ने श्री सीताजी के नेत्रों के लिए दो उपमाएं दीं। जब वे लक्ष्मणजी का परिचय देने लगीं तो गोस्वामीजी ने कहा :

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी।
बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नाम लखनु लघु देवर मोरे॥ २/११६/४

श्री सीताजी ने जब संकोच-भरी दृष्टि से देखा तो उस समय उनके नेत्र ऐसे हो रहे थे जैसे कोई मृगशावक हो, नन्हा-सा मृग-छौना हो; और उस शावक के नेत्रों में जो भाव होता है वही भाव श्री सीताजी के नेत्रों में है—**बाल मृगनयनी** और **बोली मधुर बचन पिकबयनी।** कोकिल बयनी, बाल मृगनयनी श्री सीताजी ने कहा कि ये जो बड़े सीधे स्वभाव के हैं, जिनका रंग गोरा है वे मेरे छोटे देवर हैं। अब प्रभु का परिचय देना है। बहिरंग दृष्टि से आंखें तो वही हैं लेकिन गोस्वामीजी दोनों में पार्थक्य करना चाहते हैं क्योंकि जब वे श्री लक्ष्मण को देखती हैं तो उनकी दृष्टि में कोई अन्य भाव होता है और जब श्री राम की ओर देखती हैं तो उनकी दृष्टि में कुछ और भाव होता है। जब वे श्रीराम की ओर देखने लगीं तो गोस्वामीजी ने **बाल मृगनयनी** नहीं कहा। वैसे साहित्य में मृगनयनी शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है और गोस्वामीजी ने भी अनेक प्रसंगों में मृगनयनी शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु यहां मृग के साथ एक शब्द और जोड़ दिया 'बाल'। यदि मृग और मृगशावक में तुलना करके दोनों के अन्तर पर विचार करें तो मृग के नेत्र भी विशाल होते हैं और मृगशावक, बाल मृग के नेत्र भी विशाल होते हैं। इसलिए मृग के साथ-साथ बाल या शावक शब्द जोड़ने की क्या आवश्यकता है? इसका उस वाटिका-प्रसंग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक श्री सीताजी ने भगवान् राम का दर्शन नहीं किया था तब भी गोस्वामीजी ने उनके नेत्रों की तुलना बाल मृग से की है। जिस समय श्रीराम और लक्ष्मण का वर्णन श्री सीताजी ने सुना और उनके अन्तःकरण में दर्शन की इच्छा जाग्रत हुई तो उस समय गोस्वामीजी

कहते हैं :

चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत। १/२२९

श्री सीताजी चकित होकर इस तरह देख रही हैं मानो बाल मृगी भयभीत होकर चारों ओर देख रही हो। पुष्पवाटिका-प्रसंग में भी श्री राघवेन्द्र के दर्शन से पहले उनके नेत्रों की तुलना बाल मृगी के नेत्रों से की गई है। और वन-पथ में भी जब श्री सीताजी लक्ष्मण की ओर देखती हैं तो गोस्वामीजी पुनः उनके नेत्रों की तुलना बाल मृग से ही करते हैं। तात्पर्य यह है कि जहां तक आकृति का प्रश्न है मृग और बाल मृग के नेत्रों में कोई अन्तर नहीं है। नेत्र तो दोनों के बड़े-बड़े हैं पर मृग और मृगशावक में एक बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह कि मृगशावक की आंखों में भोलापन है और मृग की आंखों में उस भोलेपन का अभाव है। अर्थात् बाल मृग में सात्विकता की कोमल भावना है और मृगनयनी में श्रृंगार रस की भंगिमा विद्यमान है। श्रृंगार रस की भंगिमा के लिए मृगनयनी शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः श्री सीताजी के नेत्रों में जब तक श्रृंगार का प्राकट्य नहीं हुआ था पुष्पवाटिका में तब तक गोस्वामीजी ने उनके नेत्रों के लिए बाल मृगनयनी शब्द का प्रयोग किया और उसके पश्चात् ज्यों-ज्यों श्रृंगार रस चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों गोस्वामीजी उपमाओं में परिवर्तन करते गये। जब तक उन्होंने राघवेन्द्र को नहीं देखा था तब तक बाल मृगनयनी थीं किन्तु आगे चलकर जब वे उन्हें खोजने लगीं और जब तक श्री राघवेन्द्र दिखाई नहीं पड़े तब भी गोस्वामीजी वही उपमा दोहराते हैं :

जहं बिलोक मृग सावक नैनी।
जनु तहं बरिस कमल सित श्रेनी॥ १/२३१/२

मृगशावक नयनी श्री सीताजी जिस ओर दृष्टि डालती हैं मानो वहां सफेद कमलों की वर्षा हो रही हो। यहां पर भी 'कमल सित' शब्दों का प्रयोग किया गया है। सफेद कमलों की वर्षा में भी वही संकेत है कि नेत्रों में तीन रंग हैं—श्वेतिमा है, लालिमा है और श्यामता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री सीताजी की दृष्टि के द्वारा चारों ओर जो कमलों की वृष्टि हो रही है वे सफेद रंग के कमल हैं। इसका अभिप्राय

है कि श्वेत रंग सात्विकता का प्रतीक है। नेत्रों के तीनों रंगों पर तो कवियों ने बहुत लिखा है। आपने वह प्रसिद्ध दोहा सुना ही होगा :

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जिहि चितवत इक बार।।

अत: गोस्वामीजी जब श्यामता और अरुणता के स्थान पर श्वेत कमलों की वर्षा की बात कहते हैं तो नेत्रों की सात्विकता की ओर संकेत करते हैं और यह उनकी अपनी शैली है। अस्तु, श्री किशोरीजी के नेत्र अत्यन्त सात्विक हैं और उनमें अभी अनुराग की लालिमा का उदय नहीं हुआ है। किन्तु श्री राघवेंद्र को देख लेने के पश्चात् गोस्वामीजी ने श्री सीताजी के नेत्रों के लिए मृगशावक नयनी की उपमा देना बन्द कर दिया । अब नेत्रों में अरुणिमा है। जहां पहले सात्विकता थी, भोलापन था उसके स्थान पर अब अनुराग की लाली आ गई। और अनुराग की लाली आ जाने के बाद गोस्वामीजी एक अन्य उपमा का प्रयोग करते हैं। धनुष-यज्ञ के प्रसंग में जब श्री सीताजी भगवान् राम को देख रही हैं तो गोस्वामीजी कहते हैं :

खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल। १/२५८

श्री सीताजी के नेत्र इस प्रकार शोभित हो रहे हैं मानो चन्द्र-मण्डल रूपी डोल में कामदेव की दो मछलियां क्रीड़ा कर रही हों। शृंगार और अनुराग के कारण नेत्रों में आई मछलियों की-सी चंचलता को ध्यान में रखकर ही गोस्वामीजी ने ऐसा कहा। गोस्वामीजी ने शृंगार रस को और आगे बढ़ाया। इसके पश्चात् धनुष भी टूट गया, और धनुष-यज्ञ के उपरान्त श्री सीताजी विवाह-मण्डप में भगवान् राम को देखती हैं। इस पर गोस्वामीजी से प्रश्न किया गया कि अब श्री सीताजी मृगशावक नयनी हैं या उनके नेत्र मीन के समान हैं। उन्होंने कहा कि नहीं, अब तो मीन की उपमा भी ठीक नहीं लग रही। वे कहते हैं :

हरत मनोहर मीन छबि प्रेम पिआसे नैन। १/३२६

अब तो ऐसा लगता है कि मछली की छवि को भी ये हर लेनेवाले, क्षीण कर देनेवाले हैं। नेत्रों में इतनी चंचलता और अनुराग की अरुणिमा दिखाई दे रही है कि गोस्वामीजी उनकी तुलना मीन से

करते हैं। विवाह हो गया और विवाह के पश्चात् जब ग्राम-वधूटियों ने पूछा कि ये आपके कौन हैं तो उस समय न तो वे बाल मृगनयनी हैं और न मीननयनी। गोस्वामीजी ने कहा :

खंजन मंजु तिरीछे नयननि। २/११६/७

अब तो खंजन पक्षी के से सुन्दर नयनोंवाली हैं और ये तिरछे शब्द अब जोड़े गये जाकर। धनुष-भंग और विवाह के उपरान्त जब इतने दिन का परिचय हो गया तब गोस्वामीजी ने कहा अब तो ऐसा लग रहा है कि खंजन के समान जिनके नेत्र हैं वे तिरछी दृष्टि से भगवान् राम को देखती हैं। इस प्रकार श्री सीताजी के नेत्रों में अनुराग और श्रृंगार के विकास का परिचय गोस्वामीजी इन उपमाओं के माध्यम से देते हैं। किन्तु वही श्री सीताजी जब लक्ष्मणजी को देखती हैं तो गोस्वामीजी को अपनी पुरानी उपमा ही याद आती है। वे कहते हैं :

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। २/११६/४

वही श्री सीताजी भगवान् राम के लिए खंजननयनी हैं किन्तु जब वे लक्ष्मणजी की ओर दृष्टि उठाकर देखती हैं तो लगता है कि अरे, ये तो वही बाल मृगनयनी हैं। तात्पर्य यह कि यहां नेत्रों में श्रृंगार का प्रश्न ही नहीं है, उनके नेत्रों में तो एक सरस भोलापन और सात्विकता दिखाई देती है। इस दृष्टि से गोस्वामीजी ने अद्भुत रस-सृष्टि कर दी। वहां तो दोनों को अलग-अलग देखना है और पुष्पवाटिका-प्रसंग में भगवान् राम और लक्ष्मण को श्री सीताजी द्वारा एक-साथ देखने का अर्थ यह है कि अगर गोस्वामीजी को शुद्ध श्रृंगार का परिपाक प्रदर्शित करना होता तो वे कह सकते थे कि नेत्र खोलकर सीताजी ने श्री राम को ही देखा। और यह ठीक भी होता, क्योंकि जिसका जिससे अनुराग होता है दृष्टि उसी पर पड़ती है और उसी की ओर व्यक्ति आकृष्ट होता है। इसलिए श्री सीताजी भगवान् राम को देख रही हैं, यदि इतना मात्र गोस्वामीजी लिखते तो श्रृंगार रस की परिपूर्णता हो जाती। किन्तु गोस्वामीजी की जो भक्तिपरक व्याख्या है वह यहां पर काम नहीं आती, क्योंकि वे शुद्ध रस का परिपाक-मात्र नहीं चाहते, उससे कुछ अधिक चाहते हैं। इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं कि गोस्वामीजी चाहते हैं कि वस्तुतः भक्ति और भगवान्,

दोनों में करुणा और वात्सल्य का उदय हो। अगर भगवान् राम और श्री सीता परस्पर एक-दूसरे के दिव्य अनुराग रस में डूब जायेंगे तो उनके प्रेम और रस की परिपूर्णता हो जायेगी और उस स्थिति में स्वयं उनको रस की पराकाष्ठा का बोध होगा। किन्तु गोस्वामीजी को लगता है कि यदि इस रस में भगवान् राम और श्री सीता डूब जायेंगे तो वह रसमयी भक्ति होगी। वृन्दावन की रसमयी भक्ति में इसी पक्ष की प्रबलता है। श्री सीता और श्री राम के प्रेम तथा श्री राधा और श्री कृष्ण के प्रेम में मुख्य अन्तर यह है कि वहां शुद्ध शृंगार और प्रीति की पराकाष्ठा है, और यहां गोस्वामीजी शृंगार के साथ करुणा और वात्सल्य को जोड़ देते हैं। वहां जो शृंगार की परिपूर्णता है उसका तात्पर्य यह है कि वृन्दावन के महान् रसिक भक्त चिन्तन करते हैं कि श्री राधा और कृष्ण परस्पर एक-दूसरे के प्रेमरस में डूब गये। उनके चिन्तन की परिपाटी यही है, और वहां भी भाव निकुंज का ही है। ध्यान देने की बात यह है कि वहां निकुंज के भीतर भगवान् कृष्ण और श्री राधा को देखने की पद्धति है और यहां गोस्वामीजी निकुंज से बाहर निकालते हैं, यही दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। वहां निकुंज के भीतर दोनों एक-दूसरे के अनुराग में डूबे हुए हैं और भक्त उस अनुराग का चिन्तन करके जीवन में धन्यता का अनुभव करता है। भक्त का एक रूप यह है। किन्तु यह भक्ति उनके उपयोग की है जो अत्यन्त निष्काम भक्त हैं, क्योंकि जिनके जीवन में केवल यही कामना रह गई है कि भगवान् श्री राधारानी के और श्री राधारानी भगवान् के प्रेम में डूबी हुई हैं और उनके प्रेम का चिन्तन करके मैं धन्य हो रहा हूं। अतः यह जो निष्काम भक्ति की परिपूर्णता है उसमें यही पक्ष है। वृन्दावन के और भी जितने ब्रज-रस के भक्त कवि हैं उन्होंने बार-बार उन दोनों के प्रेम का वर्णन किया है। रसखान ने भी अपने ढंग से वर्णन किया। दोनों की स्थिति देख ली किसी गोपवधूटी ने तो उसने कहा :

ए री आजु काल्हि सब लोक लाज त्यागि, दोऊ
सीखे हैं सबै बिध सनेह सरसाइबो।
कहैं रसखानि दिना द्वै मैं बात फैलि जैहै,
कहां लौं सयानी चन्दा हाथन छिपाइबो।।

आजु हौं निहार्‌यो बीर निपट कालिन्दी तीर,
दोउन को दोउन सो मुरि मुसकाइबो।
दोऊ परें पैयां, दोऊ लेत हैं बलैयां
उन्हें भूलि गईं गैया, इन्हें गागर उठाइबो ॥

यह ब्रजरस की एक दिव्य झांकी है, जिसमें दोनों परस्पर **दोऊ चकोर दोऊ चन्दा**, अनुराग में डूबे हुए हैं। किन्तु यहां जब गोस्वामीजी भगवान् राम का वर्णन करते हैं तो वे दो नहीं, तीसरा भी जोड़ देते हैं। हम ध्यान करते हैं तो गोस्वामीजी ने कहा कि उस वाटिका-प्रसंग में भी निकुंज से कढ़कर आयें तो श्री राम श्री सीताजी की ओर देखें और श्री सीताजी श्री राम की ओर देखें, क्योंकि लक्ष्मणजी साथ में हैं। इसका तात्पर्य है कि गोस्वामीजी का पक्ष जरा स्वार्थमय पक्ष है और स्वार्थपूर्ण पक्ष होने से हम कमजोर लोगों के अधिक काम का है। जिनमें इतनी निष्कामता हो कि वे दोनों के अनुराग का चिन्तन करें और दोनों के अनुराग का चिन्तन करके तृप्त होते रहें तो वे महान् निष्काम हैं। किन्तु गोस्वामीजी की भावना यह है कि श्री सीताजी भगवान् राम को देखें तो, पर देखने के साथ-साथ उनकी दृष्टि उन्हीं तक न रह जाये बल्कि जरा हम बालकों पर भी उनकी दृष्टि पड़ती रहे, वे हमारी ओर भी दृष्टि डालती रहें। वे निकुंज से बाहर भी इसीलिए ले आये, किन्तु ब्रजरस के रसिक भक्त कहते हैं कि दोनों एक-दूसरे के अनुराग-रस में इतने डूबे हुए हैं कि भगवान् को पता ही नहीं चलता कि संसार में क्या हो रहा है। इसलिए गोस्वामीजी ने सोचा कि जरा निकुंज से बाहर निकाल दें तो संसार को यह दिखाई देगा। वहां तो लोक-लाज भी नहीं, मर्यादा भी नहीं :

ए री आजु काल्हि सब लोक लाजि त्यागि, दोऊ
सीखे हैं सबै बिध सनेह सरसाइबो।

किन्तु यहां तो प्रारम्भ में आये तो भी विश्वामित्र की आज्ञा से आये हैं पुष्प लेने के लिए। श्री सीताजी आई हैं तो वे भी सुनयना की आज्ञा से आई हैं पार्वतीजी का पूजन करने के लिए। यहां मर्यादा का चिन्तन है और मर्यादापूर्वक श्री सीताजी श्री राम के साथ-साथ लक्ष्मण

को देखती हैं। गोस्वामीजी ने तो एक ऐसी अद्‌भुत बात लिखी कि जब वे श्री सीताजी की वन्दना करने लगे तो उन्होंने क्रम ही बदल डाला, जिसे शुद्ध क्रम की दृष्टि से देखें तो वह उलटा है। किसी का नारी-शरीर के रूप में परिचय दें तो उसके लिए तीन स्थितियां हैं। सबसे पहले किसी का परिचय कन्या के रूप में दिया जायेगा कि अमुक की कन्या हैं; विवाह हो जाने के पश्चात् कहा जायेगा कि ये अमुक की पत्नी हैं और जब सन्तान हो जाती है तो ये अमुक की मां हैं। जब स्वयं श्री सीताजी ने पुष्पवाटिका में पार्वतीजी की वन्दना की तो इसी क्रम से की :

जय जय गिरिबरराज किसोरी।

आप हिमाचल की कन्या हैं। फिर कहा :

जय महेस मुख चन्द चकोरी।। १/२३४/५

आप भगवान् शंकर के मुखचन्द्र की चकोरी हैं और फिर मां के रूप में परिचय दिया :

जय गजबदन षडानन माता। १/२३४/६

आप गणेश और स्वामी कार्त्तिकेय की माता हैं। यही क्रम रामायण में सर्वत्रपाया जाता है औरयही सही क्रम भी है। लेकिन जब गोस्वामीजी श्री सीताजी की वन्दना करने लगे तो उन्होंने क्रम भंग कर दिया। **जय-जय गिरिबरराज जनकसुता**, यह तो बिलकुल ठीक क्रम रहा। **जय-जय गिरिबरराज किसोरी**, है तो यह भी जनकसुता ही। आप श्री जनकजी की पुत्री हैं, पर पुत्री के बाद क्रम क्या उलट गया। कहते हैं— **जनकसुता जग जननि**, आप सारे संसार की मां हैं; और फिर उसके बाद कहते हैं— **अतिसय प्रिय करुनानिधान** की। किन्तु इसको रखना चाहिए बीच में और जगजननी होना चाहिए बाद में। पहले पुत्री, फिर प्रिया और बाद में मां। पर गोस्वामीजी कहते हैं :

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की।। १/१७/७

गोस्वामीजी बहुत बड़ी बात कह गये। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है

कि मां मैं जानता हूं कि आप **अतिसय प्रिय करुनानिधान** की हैं और हमारी मां भी हैं पर हम यह चाहते हैं कि आप मां पहले रहें और प्रिया बाद में । हमारे प्रति आपकी दृष्टि अधिक समय रहे, किन्तु यह स्वार्थपूर्ण दृष्टि है इसे हम स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं । इसमें स्वीकृति यह है कि आप मां पहले हैं, आपमें दोनों हैं—प्रीति भी और वात्सल्य भी । किन्तु अन्तर यह है कि श्री राधारानी में प्रीति की पराकाष्ठा है और श्री सीताजी में प्रीति के पहले वात्सल्य है, करुणा है । इसीलिए गोस्वामीजी ने एक अन्य क्रम और बदल दिया जिसकी ओर पाठकों का ध्यान जाना चाहिए । यदि उस शब्द को उस सन्दर्भ में न देखें तो वह शब्द भी गलत है । गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री सीताजी किसकी प्रिया हैं ? मैंने जब पहली बार यह पढ़ा तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, लगा कि प्रसंग के अनुकूल नाम नहीं चुना गया । जैसे पुत्र जब अपने पिता को पुकारेगा तो पिता कहकर पुकारेगा और सेवक होगा तो स्वामी कहकर पुकारेगा । लेकिन पुत्र के सन्दर्भ में कोई अगर यह लिखे कि पुत्र ने पिता को स्वामी कहकर पुकारा तो यह बहुत बड़ा दोष हो गया । पुत्र के लिए वह पिता है परन्तु स्वामी तो नहीं है । श्री सीताजी के लिए भगवान् राम प्रियतम हैं । ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी को अगर **प्रियतम** लिखना है, **अतिसय प्रिय** लिखना है तो उन्हें लिखना चाहिए :

अतिसय प्रिय प्रियतम सुजान की ।

परन्तु गोस्वामीजी लिखते हैं—**अतिसय प्रिय करुनानिधान की ।** शृंगार के सन्दर्भ में यह करुणानिधान नाम तो सर्वथा असंगत है । करुणानिधान का अभिप्राय तो यह है कि जो दीनों, दरिद्रों पर दया करे, अभावग्रस्तों पर दया करे; और जो दयनीय हैं उन पर दया करने का नाम करुणा है । इसलिए श्री सीताजी करुणानिधान की प्रिया हैं या प्रियतम की प्रिया हैं । गोस्वामीजी इसके द्वारा भी बताते हैं और यह रामायण का महामन्त्र है । रामचरितमानस में भक्ति के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि श्री सीताजी भगवान् राम को करुणानिधान कहकर पुकारें, प्रियतम कहकर नहीं । क्योंकि ईश्वर में तो अनन्त गुण हैं और उन अनन्त गुणों में से हम जिस गुण को प्रकट करना चाहें उसी के अनुकल

व्यवहार करना पड़ता है। भौतिक जगत् में भी आप यही क्रम देखते हैं। उदाहरण के लिए बिजली जड़ शक्ति है जबकि श्री सीताजी चेतन महाशक्ति हैं, पर बिजली के रूप में जड़ शक्ति में भी यही प्रयोग देखते हैं कि बिजली की शक्ति से हम जैसा और जो काम लेना चाहते हैं उसी प्रकार के यन्त्र से उसे जोड़ देते हैं। भाषण के लिए आवश्यकता होती है शब्द-प्रसार की इसलिए वक्ता और श्रोता के बीच में एक यन्त्र रख दिया गया और विद्युत् शक्ति शब्द-संवाहक बनकर उसको दूर तक फैला रही है; कहीं प्रकाश लेना है तो उसको लट्टू से जोड़ दिया गया और वह प्रकाश दे रही है; कहीं पंखे से जोड़ दिया गया तो विद्युत् शक्ति हवा के रूप में आ रही है; कहीं शीतलता के यन्त्र से जोड़ दिया गया तो ठंडक मिल रही है। अभिप्राय यह कि जैसे बिजली की शक्ति को हम जिस यन्त्र से जोड़ देते हैं बिजली का वैसा ही गुण प्रकट हो जाता है। वह तो शक्ति का पुंज है, हम उस शक्ति-पुंज से क्या पाना चाहते हैं इसका निर्णय तो हमें करना है। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर के जो अनन्त गुण हैं उन गुणों में से हम किस गुण को पाना चाहते हैं, प्रश्न यह है। हम जो गुण पाना चाहते हैं भगवान् में वह गुण कैसे प्रकट हो इसी का उपाय खोजना पड़ता है। जैसे आपने निर्णय किया कि हमें तो हवा चाहिए तो आप विद्युत् को पंखे से जोड़कर हवा के रूप में पा लेते हैं, इसी प्रकार से हमें निर्णय करना है कि भगवान् के अनन्त गुणों में से हमें किस विशेष गुण की आवश्यकता है। यह जान लेने के बाद कि भगवान् के अनन्त गुणों में से हमें अमुक गुण की आवश्यकता है तब हम यह निर्णय करें कि भगवान् का उक्त गुण कैसे प्रकट होगा ! जैसे रावण का वध करने के लिए ब्रह्मा भगवान् से अवतार लेने की प्रार्थना कर रहे हैं। क्योंकि भगवान् राम से रावण के वध का काम लेना है इसलिए ब्रह्माजी की प्रार्थना उस प्रसंग में सर्वथा संगत है। ब्रह्माजी ने तुरत भगवान् की प्रार्थना प्रारम्भ की— **जय जय सुरनायक**, हे देवताओं के नायक आपकी जय हो। ब्रह्मा-जैसा विद्वान् और इतने छोटे-से शब्द का प्रयोग कर रहा है। कहना चाहिए समस्त ब्रह्माण्ड के नायक; अथवा यह कहना चाहिए कि आप देवताओं के नायक हैं ? यों अगर देखें तो ईश्वर की महिमा की दृष्टि से ब्रह्मा का शब्द हल्का है, लेकिन ब्रह्मा के उद्देश्य की दृष्टि से वही शब्द ठीक है। क्योंकि अगर वे कह दें कि आप सारे

ब्रह्माण्ड के नायक हैं और रावण को मारिये तो स्वयं में विरोधाभास हो जायेगा। जब हम सबके नायक हैं तो रावण को क्यों मारें ? इसलिए ब्रह्मा ने उन्हें पहले अपने दल में सम्मिलित कर लिया। बोले—**जय जय सुरनायक**, महाराज, हम तो आपको सुरनायक मानते हैं। इसका अभिप्राय है कि ठीक अपनी मांग के अनुकूल प्रार्थना का शब्द जोड़ा गया—**जय जय सुरनायक**, किन्तु **सर्व सुखदायक** नहीं क्योंकि भगवान् तो सबके सुखदाता माने जाते हैं। गुरु वशिष्ठ तो कहते हैं :

जो आनन्द सिंधु सुखरासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।
सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा।। १/१९६/५

जो सबको सुख दे, पर ब्रह्मा ऐसा भी नहीं कहते। ब्रह्मा शब्दों के प्रयोग में संकोच करते हैं—**जय जय सुरनायक** और **जन सुखदायक**, जो आपके जन हैं आप केवल उन्हीं को सुख देते हैं। रावण को दुःख होनेवाला है तो यह कैसे कहें कि आप सबके सुखदाता हैं, बल्कि कहा कि **जन सुखदायक**। भगवान् पूछ सकते हैं कि आप कौन हैं ? आप किस अधिकार से कह रहे हैं ? ब्रह्मा भगवान् का तीसरा नाम देते हैं—**प्रनतपाल भगवन्ता**, जो आपके चरणों में प्रणत होते हैं आप ऐसे शरणागतों की रक्षा करते हैं। अतः प्रत्येक शब्द जुड़ा हुआ है उनकी कामना से :

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवन्ता।

और किसके हितकारी हैं—**गो-द्विज हितकारी**। पृथ्वी गाय का रूप धारण करके गई थी इसलिए कह देते हैं कि आप ब्राह्मण और गो के हितकारी हैं। तो क्या संसार के अहितकारी हैं ? नहीं, इसका अभिप्राय है कि रावण गो-द्विज का विनाश करनेवाला है, इसलिए अगर उसको विनष्ट करने की प्रार्थना है तो भगवान् को भी गो-द्विज हितकारी बनाना पड़ेगा। इतना ही नहीं, नाता भी कितना बढ़िया जोड़ा ! तुलसीदासजी से तो भगवान् ने पूछ ही लिया कि मेरे-तुम्हारे बीच कोन-सा नाता है ? इस पर उन्होंने कई नाते गिना दिये :

ब्रह्म तू हौं जीव तू ठाकुर हौं चेरौ। विनय०, ७९

कई नाते गिनाने के बाद भगवान् ने कहा कि इन नातों में से एक नाता बताओ। तो गोस्वामीजी चतुराई कर गये। कहने लगे :

तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिए जो भावै।

इन नातों में से आपको कौन-सा नाता अच्छा लग रहा है महाराज, आपने भी तो सुन लिया इतने नातों के विषय में। गोस्वामीजी को लगा कि मैं अपनी ओर से कोई नाता मानूंगा तो नाते का कर्त्तव्य भी मुझे ही निभाना पड़ेगा और अगर ये मानेंगे तो इन्हीं को निभाना पड़ेगा और मुझ पर कोई भार नहीं रहेगा। इसलिए गोस्वामीजी चतुराई से बोले :

मानिए जो भावे
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै। विनय०, ७९

ब्रह्मा से भगवान् ने पूछा कौन-सा नाता? इस पर उन्होंने तुरत नाता जोड़ लिया। बोले :

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवन्ता,
गो-द्विज हितकारी... १/१८५/१

और **गो-द्विज हितकारी** ही नहीं वे और स्पष्ट कर देते हैं—**जय असुरारी**, आप असुरों के शत्रु भी हैं। भगवान् किसी के शत्रु नहीं हैं, पर यदि असुर का संहार कराना है तो फिर उन्हें किसी का शत्रु भी बनाना ही पड़ेगा।

गो-द्विज हितकारी जय असुरारी...

और नाता कितना बढ़िया जोड़ा :

सिंधुसुता प्रिय कन्ता॥ १/१८५/२

क्या आप भूल गये कि आप लक्ष्मीजी के पति हैं? लक्ष्मीजी तो हम देवताओं की, समुद्र की ही कन्या हैं, इसलिए आप तो जामाता हुए। अतः जामाता का जो कर्त्तव्य है आप उसका पालन कीजिए। इसका अभिप्राय है कि अनन्त ईश्वर से हम जो पाना चाहते हैं उसके अनुकूल

ही हमारा मन्त्र होना चाहिए, उसके अनुकूल ही हमारा ध्यान होना चाहिए और उसी के अनुकूल हमारी स्तुति होनी चाहिए तभी भगवान् का वह गुण प्रकट होगा। वह तो बड़ी प्रसिद्ध घटना कही जाती है न, और है भी बड़ी सार्थक। एक बार वृन्दावन में गोस्वामीजी और सूरदासजी महाराज का मिलन हुआ। दोनों में सत्संग चल रहा था कि अचानक एक मतवाला पागल हाथी कहीं से दौड़ता हुआ चला आया। बेचारे सत्संगी लोग उठकर भागने लगे और चिल्लाकर कहने लगे कि पागल हाथी आ रहा है, पागल हाथी आ रहा है। अत: सूरदासजी भी उठकर भागे। यह देखकर गोस्वामीजी ने कहा कि अरे, आप भागते क्यों हैं, क्या भगवान् हमारी रक्षा नहीं करेंगे ? आप तो बैठिए। इस पर सूरदासजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि हमारे मन में जो बाल-गोपाल हैं वे अपनी रक्षा तो कर ही नहीं पाते मेरी रक्षा क्या करेंगे ! यह बात और है कि आपके आराध्य के धनुष-बाण भारी हों और वे आपकी रक्षा कर सकते हों। और कहा जाता है कि उसी समय एक बाण आया और हाथी मरकर गिर पड़ा। परन्तु यह कोई सूरदासजी की कायरता नहीं है। इसका अर्थ है कि उन्होंने जो भाव जोड़ा, बाल-गोपाल मान लिया तो उसी तरह का नाता निभाया। कई लोग ऐसी भूल करते हैं कि मानते तो हैं बालक और बालक मानने के बाद उनसे रक्षा की आशा करते हैं। आप लोगों में से किसी को पूजा में ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि बालक राम की पूजा करें और बाद में उनसे कहें कि आप हमारा यह काम कर दीजिए। बालक को तो दीजिए, उनसे मांगने की क्या बात है ! हम जिस रूप में भगवान् को चाहते हैं बस उसी रूप में उसे पाने के लिए, उसी प्रकार के भाव-यन्त्र से अपने को भगवान् से जोड़ देना है। इस सम्बन्ध में रामचरितमानस में कहा गया :

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ २/२१८/३

× ×

तदपि करहिं सम बिषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ २/२१८/५

जिसका हृदय जैसा है भगवान् उसके लिए वैसे ही बन जाते हैं।

रामचरितमानस में भी सर्वत्र इसी क्रम का संकेत किया गया है। गोस्वामीजी भगवान् राम में कौन-सा गुण प्रकट करना चाहते हैं, उनकी इस विषय में क्या अभिलाषा है, इसी में सारा रहस्य छिपा हुआ है। गोस्वामीजी की मान्यता है कि भगवान् में करुणा का गुण प्रकट हो, और उनकी भक्ति का मुख्य उद्देश्य है किसी तरह से भगवान् में करुणा की सृष्टि हो। जब भक्ति के द्वारा भगवान् में करुणा की सृष्टि होगी तो हम लोगों की दीनता पर, हमारी समस्याओं पर उनकी दृष्टि जायेगी और वे हमारी समस्याओं का समाधान करने की कृपा करेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर भले ही सर्वशक्तिमान् हो पर सर्वशक्तिमान् होते हुए भी जब उसमें करुणा उदित होगी, जब वह द्रवित होगा तभी तो हमारी सहायता करने के लिए बेचैन होगा। गोस्वामीजी से भगवान् ने पूछा कि क्या तुम्हें संसार में समर्थ लोग नहीं मिले? तुमने अन्यों का आश्रय छोड़कर मेरा ही आश्रय क्यों लिया? गोस्वामीजी ने कहा कि महाराज, मैं संसार में बहुत भटका लेकिन मैंने देखा—**प्रभु अकृपालु,** जिनमें सामर्थ्य थी उनका हृदय कठोर था, उनमें कृपा की कमी थी और दूसरी ओर **कृपालु अलायक,** जो बेचारे कोमल हृदय के थे, बात-बात में आंसू बहानेवाले और द्रवित होनेवाले थे, उनमें सामर्थ्य का अभाव था। अतः जब तक इन दोनों का संगम न हो :

प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक।
जहं जहं चितहिं डोलावों॥
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही,।
कहि भ्रम कहा गंवावों॥
तुम तजि और कौन पै जावों। विनय०, २३२

गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु, मुझे तो ऐसे समर्थ की आवश्यकता है जिसमें करुणा हो, कोमलता हो और जिसका हृदय उदार हो। इस दृष्टि से भक्ति-रूपा मूर्तिमती श्री सीताजी द्वारा गोस्वामीजी क्या चाहते हैं? श्री सीताजी के सौन्दर्य पर भगवान् राम आकृष्ट हैं, वे उनके अनुराग में डूब गये पर श्री सीताजी भगवान् राम के अनुराग को पाकर स्वयं ही आनन्दित न हो जायें, अपितु यों कहा जा सकता है कि संसार में भी तो शृंगार की परिणति जब वात्सल्य के रूप में

होती है तो व्यक्ति में परिवर्तन आता है या नहीं ? विवाहित पति-पत्नी में प्रारम्भ में एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त प्रगाढ़ आकर्षण, शृंगार और अनुराग की भावना होती है लेकिन तत्पश्चात् जब सन्तान का जन्म हो जाता है तो एक परिवर्तन आता है। और वह परिवर्तन यह है कि माता-पिता दोनों नन्हें शिशु के लिए अपने अनुराग और सुख का कुछ-न-कुछ त्याग करते हैं। इससे निश्चय ही उनके अनुराग में, उनके सुख में बाधा पड़ी। इसका अभिप्राय है कि मान लीजिए कोई व्यक्ति बड़े अनुराग से अपनी प्रिया से वार्त्तालाप कर रहा है पर उसी समय यदि नन्हा बच्चा रो पड़े तो इससे उनकी प्रीति में, उनके अनुराग रस के वार्त्तालाप में बाधा पड़ेगी। लेकिन माता-पिता के अन्तःकरण में यह झुंझुलाहट तो नहीं होती कि बालक क्यों रोया, अपितु अपने स्नेह को समेटकर वे दौड़ते हैं और बालक को गोद में उठा लेते हैं और फिर बालक क्यों रो रहा है इसकी चिन्ता करने लग जाते हैं। गोस्वामीज़ी ने भी उस वाटिका में शृंगार के साथ वात्सल्य को जोड़ा। इसका तात्पर्य यह है कि मां, आप प्रियतम के प्रेम में ही मत डूब जाइयेगा, हम बालकों का रोना भी सुन लीजिएगा। इतना ही नहीं कि बालक का रोना सुनकर मां स्वयं द्रवित हो जाती है बल्कि वह पिता को भी बाध्य करती है कि देखो, बालक रो रहा है। इसलिए अब वैद्य को, चिकित्सक को बुलाओ जो दवा दे, उसको कष्ट हो रहा है। अतएव गोस्वामीजी चाहते हैं कि श्री सीताजी जो मूर्त्तिमती भक्ति हैं, अपने दिव्य सौन्दर्य के द्वारा भगवान् राम को अपनी ओर आकृष्ट करें, भगवान् राम उनके अनुराग में डूब जायें लेकिन साथ में लक्ष्मण को जोड़कर याद दिला दिया कि बालक भी है, महाराज ! वात्सल्य का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है और जब कभी हम बालकों पर कष्ट पड़े तो हमें विश्वास है कि आप दोनों अपने ही आनन्द में नहीं डूबे रहेंगे, हमारा भी ध्यान करेंगे। इसीलिए गोस्वामीजी श्री सीताजी से प्रार्थना करते हैं। भक्त जैसी प्रार्थना करेगा श्री सीताजी उसी शब्द के द्वारा भगवान् राम को पुकारेंगी। भक्ति के द्वारा भगवान् का जो गुण हम प्रकट करना चाहेंगे वही गुण प्रकट होगा। अतः गोस्वामीजी ने श्री सीताजी से भगवान् राम का नाम रखवाया—**अतिसय प्रिय करुनानिधान की**, अर्थात् आप जब प्रभु को पुकारें तो प्रियतम कहकर मत पुकारिए; क्योंकि जब आप

प्रियतम कहेंगी तो वे पूरी तरह से आपके प्रेम में डूब जायेंगे और जब आप करुणानिधान कहकर पुकारेंगी तो करुणा करने के लिए वे हम लोगों को ढूंढ़ेंगे। करुणा की आवश्यकता आपको नहीं, हम लोगों को है। इसलिए रामचरितमानस में श्री सीताजी के इस शृंगार के नाते में करुणा को जोड़कर गोस्वामीजी ने एक नई परम्परा का श्रीगणेश किया और यदि इस प्रसंग को और भी स्पष्ट रूप में समझना हो तो विनयपत्रिका पढ़ लीजिए। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी ने भगवान् के नाम पत्र लिखा, पर अन्तर इतना ही है कि पत्र दूसरे व्यक्ति के द्वारा या आजकल की तरह डाक द्वारा भेजने की बजाय गोस्वामीजी स्वयं पत्र लेकर गये। स्वयं लेकर जाने का उद्देश्य यह है कि जब कोई बात कहने में संकोच हो या विस्तार से अपनी बात कहनी हो तो वह पत्र के माध्यम से सरलता से कही जा सकती है। जब पत्र लेकर गोस्वामीजी सभा में पहुंचे तो देखा कि वहां बहुत बड़े-बड़े व्यक्ति विराजमान हैं। इसलिए उन्होंने सोचा कि सब लोगों को अपना पक्षधर बना लें तभी काम बनेगा। हमारे इस पत्र को सुनकर प्रभु पर अनुकूल प्रभाव पड़ना तो निकटस्थ व्यक्तियों पर ही निर्भर है। अत: लक्ष्मणजी, भरतजी, हनुमानजी और शंकरजी सबको प्रसन्न कर लिया, सबकी स्तुति कर ली। उन्होंने विनती की कि मेरा यह पत्र जब प्रभु के सामने पढ़ा जाये तो जरा आप भी समर्थन कर दीजिएगा। किन्तु जब इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ तो एकान्त मार्ग पर चले गये जहां श्री किशोरीजी—सीताजी—विराजमान थीं। गोस्वामीजी का वह प्रसिद्ध पद आपने पढ़ा होगा, सुना होगा। उन्होंने मां से कहा :

कबहुंक अंब अवसर पाइ। विनयपत्रिका, ४१

मां, जब कभी आपको अवसर मिले, अर्थात् वे प्रभु को राजसभा में देख आये थे, प्रभु प्रजा की सेवा में कितने व्यस्त थे यह भी देख आये थे, इतने ऋषि-मुनि और देवता आ रहे थे, राजा आ रहे थे, प्रजा आ रही थी, सबका न्याय करना, सबके प्रति व्यवहार करना, भगवान् राम तो इस कार्य में लगे हुए थे। वे रात्रि को विलम्ब से महल में लौटकर आयेंगे इसलिए गोस्वामीजी ने इस पद के लिए एक राग का भी चुनाव कर दिया। विनयपत्रिका की पुरानी पोथियों में इसके

ऊपर लिखा हुआ है राग केदारा। हमारे यहां तो राग-रानियों के गाने का अलग-अलग समय है। और राग केदारा गाने का समय है :

अर्ध रात्रान्तर्गते रागं केदारं गीयते बुधैः।

अर्थात् विद्वज्जन आधी रात के समय राग केदारा का गायन करते हैं। गोस्वामीजी श्री सीताजी से निवेदन करते हैं--**कबहुंक अंब अवसर पाइ**, और राग के माध्यम से समय का संकेत भी दे देते हैं। प्रभु दिन-भर व्यस्त रहेंगे, किन्तु कथा सुनकर कम-से-कम आधी रात को तो लौट ही आयेंगे। भला सोचिए, भगवान् राम सारा कार्य समाप्त करने के बाद थके-थकाये, जब आधी रात को आयेंगे तो गोस्वामीजी मां से यह नहीं कहते कि उस समय आप उनके विश्राम की व्यवस्था कर दीजिएगा ताकि वे आनन्द से सो जायें। वे तो क्षीरसागर में न जाने कितना सोते रहते हैं! हम लोगों की समस्या ही यही है कि ईश्वर सोता बहुत है। हम लोगों के जीवन में तो कम-से-कम सोया ही हुआ है। किसी ने कबीरदासजी से पूछा कि जब ईश्वर सबके हृदय में हैं तो फिर सन्त और असन्त में क्या अन्तर है? उन्होंने कहा :

सब घट मेरा सांइया सूनी सेज न कोय।

संसार में जितने मनुष्य हैं सबके हृदय रूपी पलंग पर हमारा स्वामी विद्यमान है। **सूनी सेज न कोय** में ही व्यंग्य है। कबीर ने हृदय के सिंहासन पर न कहकर हृदय की शय्या पर कहा। संसार में जितने प्राणी हैं उनके हृदय की शय्या पर भगवान् हैं। सिंहासन पर बैठा हुआ ईश्वर मिलेगा पर सेज पर का अभिप्राय यह है कि सारे संसार के जीवों के हृदय में एक-एक पलंग बिछा हुआ है और उस पलंग पर ईश्वर सो रहा है। सन्त कौन है :

सब घट मेरा सांइया सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट की जा घट परगट होय।।

जिसके हृदय में जाग गया है, नींद छोड़कर बैठ गया है उसके हृदय में ईश्वर सक्रिय हो गया है। हमें जागनेवाले ईश्वर की आवश्यकता है, जो सोया हुआ होगा वह हमारी ओर क्या ध्यान देगा! गोस्वामीजी

तो भगवान् को आधी रात को भी सोने नहीं दे रहे और श्री सीताजी से अनुरोध कर रहे हैं। मां का बालक के प्रति जितना पक्षपात होता है उतना अन्य किसी के प्रति नहीं होता। प्रियतम प्रभु आधी रात को पधारेंगे, आप उनका स्वागत कीजिएगा और उस समय जरा मेरी चर्चा चलाइयेगा। मैं कल सभा में पत्र पहुंचनेवाला हूं। यदि आप पहले से कुछ कह देंगी तभी तो मेरे पत्र का प्रभाव पड़ेगा। मां ने पूछा कि तो मैं यही कह दूं न कि तुलसीदास ने आपके नाम एक पत्र लिखा है, पत्रिका लिखी है उस पर आप ध्यान दीजिएगा। नहीं नहीं, कृपा करके मेरा नाम ऐसे तो लीजिएगा ही नहीं, बल्कि प्रभु को द्रवित करके जिस बात को सुनकर वे हमारे पत्र पर ध्यान दे सकें उसके लिए एक प्रयोग कीजिएगा :

कबहुंक अंब अवसर पाइ।
मेरीऔ सुधि द्यायबी कछु करुन कथा चलाइ॥ विनय०, ४१

एक तो स्वागत करें तो करुणानिधान कहकर करियेगा, इसके अतिरिक्त और कुछ मत कहिएगा। मर्यादा पुरुषोत्तम मत कह दीजिएगा नहीं तो अनर्थ ही हो जायेगा। कहीं आपने कह दिया कि आइये, मर्यादा पुरुषोत्तम और मेरा नाम ले दिया तो कहेंगे कि उसमें तो मर्यादा का लेश नहीं है, उसको तो जरूर दण्ड देंगे। जब मैं मर्यादा पुरुषोत्तम हूं तो जो मर्यादा के विरुद्ध आचरण करे उसको तो दण्ड देना ही चाहिए। अगर आप कहीं कह देंगी कि आइये, अखण्ड ज्ञानघन—भगवान अखण्ड ज्ञानघन भी हैं :

ग्यान अखण्ड एक सीताबर।
माया बस्य जीव सचराचर॥ ७/७७/४

तो कहेंगे, वह तो सर्वथा ज्ञानशून्य है, उसका व्यवहार तो अत्यन्त भेदवादी है। इसलिए न तो ज्ञाननिधान, न मर्यादा पुरुषोत्तम और न धर्मधुरन्धर, ये सब नाम मत लीजिएगा। तदुपरान्त **मेरीऔ सुधि द्यायबी**, पर सुध दिलाने के पहले—**कछु करुन कथा चलाइ**। आप तो प्रियतम को नाम लेकर पुकारियेगा—करुणानिधान, और जब पूछें तो कहिएगा कि आज मैं आपको एक कथा सुनाना चाहती हूं। प्रभु तो राजसभा से कथा सुनकर आये ही हैं पर अब आधी रात को भी कथा

सुनने बैठ गये और श्री सीताजी कथा सुनायेंगी। और कथा भी ऐसी सुनाइयेगा जिसमें प्रभु ने दीन पर दया की हो, अपराधी को क्षमा किया हो, कोई ऐसा प्रसंग सुनाइयेगा जिससे द्रवित होकर, पिघलकर प्रभु मेरी भी सुध लें। इसे यों कहा जा सकता है कि जैसे कठोर सोने को अगर हम कोई आकृति देना चाहते हैं तो उसका उपाय यह है कि पहले उसे आंच पर पिघलाने के बाद जैसे सांचे में डाल दिया जायेगा उस सोने की वैसी ही आकृति हो जायेगी। इसी प्रकार ईश्वर को पहले प्रेम की आंच में पिघलाइये और फिर उसको जैसे सांचे में ढालना हो वैसे सांचे में प्रेमरस से पिघले हुए उस ईश्वर को डाल दीजिए, बस ईश्वर वही रूप धारण कर लेगा। यदि पिघलाकर मर्यादा पुरुषोत्तम बनाइयेगा तो मर्यादा पुरुषोत्तम बन जायेगा, ज्ञानघन बनाइयेगा तो ज्ञानघन बन जायेगा। बालि से यही भूल हो गई थी। भगवान् राम ने बालि से पूछा, मुझे पहचानते हो? हां :

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। ४/८/५

आप तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं न, आपने मुझे क्यों मार डाला? भगवान् ने कहा, मैं मर्यादा पुरुषोत्तम हूं न? बालि ने कहा—हां। तो सुनो :

अनुज बधू भगिनी सुत नारी।
सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
ताहि बधें कछु पाप न होई॥ ४/८/७

मैंने वही काम किया जैसा तुम मुझे समझते हो। मैं धर्मरक्षक हूं, मर्यादा पुरुषोत्तम हूं, अतः जो मर्यादा के विरुद्ध आचरण करे उसे दण्ड देना चाहिए, और इसीलिए मैंने दण्ड दिया। पिघलाकर सांचे में ढालने में बालि ने इतनी बड़ी भूल कर दी कि ईश्वर ने अपने दण्ड का ही समर्थन कर दिया। ईश्वर दण्डदाता भी है, करुणामय भी है, किन्तु उससे आप क्या पाना चाहते हैं? गोस्वामीजी करुणा पाना चाहते हैं, इसलिए कहते हैं :

मेरीऔ सुधि द्यायबी कछु करुन कथा चलाइ। विनय०,४१

जब करुण कथा समाप्त हो जायेगी तो भगवान् द्रवित हो जायेंगे।

वे पूछेंगे कि क्या कोई करुणा का पात्र आपको मिल गया है ? आप इतने विस्तार से आधी रात को कथा सुना रही हैं तो जरूर कोई-न-कोई करुणा का पात्र आपको दिखाई दे गया होगा :

बूझिहैं सो है कौन कहिबी नाम दसा जनाइ । विनय०, ४१

तब मेरा नाम लीजिएगा । और कैसे लीजिएगा ? कह दीजिएगा कि दीन है । और करुणा का गुण क्या है ? इसका नियम यह है कि अगर हम भगवान् की करुणा प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे अन्तःकरण में दैन्य का उदय होना चाहिए, क्योंकि करुणा का स्वभाव है कि वह सदा दीन की ओर होती है । यह ध्यान रहे कि समर्थ पर करुणा नहीं होगी । समर्थ को सम्मान तो मिल सकता है पर करुणा कैसे मिलेगी ! इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरा परिचय देते समय कहिएगा कि **दीन सब अंगहीन**, दीन है और साधना के जितने अंग हैं उनसे हीन है । **दीन सब अंग हीन, छीन**—बड़ा दुबला-पतला है, **मलीन अघी अघाइ** । है कौन, क्या करता है वह जीवन में ? **नाम लै भरै उदर**, अर्थात् महाराज, आपका नाम लेकर पेट भरा करता है । भगवान् पूछेंगे कि उसका नाम क्या है ? गोस्वामीजी तुरत सीताजी से कहते हैं कि मेरा नाम ले दीजिएगा और कह दीजिएगा कि **दासी दास कहाइ**, आपकी दासी का दास है । तुलसी भगवान् की दासी मानी जाती है और चरणों में चढ़ाई जाती है । जब तुलसी आपको इतनी प्रिय हो सकती हैं जो दैत्य की पत्नी थीं, आपके शत्रु की पत्नी थीं, जिन्हें आपने सदा के लिए धारण कर लिया और उन्हें मस्तक पर स्थान दिया तो दासी के दास को कम-से-कम चरणों में स्थान तो मिल ही जायेगा । यह स्थान पाने का अधिकारी तो मैं हो ही जाऊंगा ।

दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ ।।
बूझिहैं सो है कौन कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत रामकृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।।
विनय०, ४१

श्री राम हैं कृपालु, यह सीधे याद भी दिला दिया । मेरे लिए आप इतना कीजिएगा, मैं आपकी मर्यादा के अनुकूल कह रहा हूं । क्योंकि

जानकी जगजननि, मां हैं न आप ! इसका अभिप्राय है कि पिता की दृष्टि तो बालक के दोषों पर जा भी सकती है पर मां तो वात्सल्य से देखती है :

जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुनगन गाइ ।।

गोस्वामीजी भक्ति का महत्तम लक्ष्य यह मानते हैं कि किसी प्रकार भगवान् में जीव के प्रति करुणा उत्पन्न हो जाये, और यही भक्ति का सर्वश्रेष्ठ कार्य भी है । इसीलिए भगवान् राम-सीता दो नहीं रहते, वन जा रहे हैं तो भी दोनों के साथ लक्ष्मण जुड़े हुए हैं । लक्ष्मण जुड़े हुए हैं इसलिए पहले तो गोस्वामीजी ने इसका वर्णन किया कि भगवान् राम और श्री सीताजी का प्रेम कैसा है :

राम संग सिय रहति सुखारी ।
पुर परिजन गृह सुरति बिसारी ।। २/१३९/१

× ×

नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी ।
हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ।। २/१३९/३

भगवान् राम श्री सीताजी को देखकर प्रसन्न होते हैं । उनका सौन्दर्य, उनका उत्साह देखकर प्रसन्न होते हैं । इसलिए गोस्वामीजी वहां जोड़ देते हैं कि भगवान् राम श्री सीताजी के प्रेम में डूबे हुए हैं और श्री सीताजी भगवान् राम के प्रेम में डूबी हुई हैं । किन्तु उनके साथ तीसरे लक्ष्मण भी तो हैं, अतः गोस्वामीजी ने पहले यह देखा कि लक्ष्मणजी क्या करते हैं :

सेवहिं लखनु करम मन बानी ।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी ।। २/१३८/८

लक्ष्मणजी मन-वचन-कर्म से श्री सीताजी और प्रभु की सेवा करते हैं, एवं उनके शील-स्नेह का वर्णन नहीं किया जा सकता । किन्तु भगवान् राम और श्री सीता मिलकर क्या करते हैं ?

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें ।
पलक बिलोचन गोलक जैसें ।। २/१४१/१

जैसे नेत्र-गोलकों की दोनों पलकें रक्षा करती हैं इसी प्रकार भगवान् राम और श्री सीताजी दोनों लक्ष्मणजी की सार-संभाल करते हैं। लक्ष्मणजी बन गये पुतली और भगवान् राम और सीताजी बन गये पलक। इतना बड़ा सौभाग्य! गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् राम का एक व्रत है:

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥ २/१४०/१

इसलिए एक दिन भगवान् राम और श्री सीताजी में प्रेम-भरा विवाद छिड़ गया। लता और वृक्ष के मिलन से कुंज बन गया था और उस दृश्य को देखकर दोनों को बड़ा आनन्द आया, पर दोनों ने व्याख्या अलग-अलग प्रकार से की। भगवान् राम ने कहा कि सीते, देखो तो यह लता कितनी स्नेहमयी है, कितनी अनुरागमयी है कि इसने वृक्ष में जितने छिद्र थे उनको अपने पत्तों के द्वारा ढक दिया। अगर लता ने इसको चारों ओर से आच्छादित न कर दिया होता तो वृक्ष में छिद्र रह जाते; और धन्य है वह वृक्ष जिसका इतना अधिक सौभाग्य है कि उसने इतनी सौभाग्यशालिनी लता को अपने पास पाया। यह अपने सौभाग्य की तुलना में किसी का सौभाग्य नहीं मानती। श्री सीताजी ने कहा कि महाराज, दृश्य तो बड़ा सुन्दर है, पर मुझे तो लगता है कि यह व्याख्या उल्टी हो गई। मैं तो यह समझती हूं कि भाग्यशालिनी यह लता है जिसने वृक्ष का सहारा पा लिया। अगर वृक्ष ने ऊपर न उठाया होता तो कोई भी पशु उसे चर जाता। वृक्ष ने ऊपर उठा दिया इसलिए सौभाग्यशालिनी तो लता है। दोनों अपने-अपने पक्ष का समर्थन कर रहे हैं किन्तु वस्तुतः लता-वृक्ष के बहाने भगवान् राम कहते हैं कि मैं आपको पाकर धन्य हूं, सौभाग्यशाली हूं, और श्री सीताजी कहती हैं कि आपको पाकर मैं सौभाग्यशालिनी हूं। इसका निर्णय कौन करे कि भाग्य किसका बड़ा है—भगवान् राम का या श्री सीताजी का? दोनों ने तुरत लक्ष्मण को बुलाया।

लक्ष्मणजी के आने पर भगवान् राम ने अपनी बात कही तो वे बोले कि आप बिलकुल ठीक कहते हैं, वृक्ष बड़ा भाग्यशाली है। जब श्री सीताजी ने कहा कि लता कितनी भाग्यशालिनी है तो कहने लगे

कि आप बिलकुल ठीक कहती हैं, लता अत्यन्त भाग्यशालिनी है। दोनों ने हंसकर कहा कि तुमने तो दोनों के पक्ष में निर्णय दिया; दोनों में अगर कोई बड़भागी है तो कौन ? लक्ष्मणजी ने कहा कि मैं समझता हूं कि लता और वृक्ष दोनों का भाग्य तो समान है, तीसरे का भाग्य इन दोनों से बड़ा है। जो इस निकुंज में दोनों की छाया में बैठा हुआ है वह उन दोनों से सौभाग्यशाली है, क्योंकि वस्तुत: दोनों उसे अपनी छाया के द्वारा धन्य कर रहे हैं। संकेत यह था कि सबसे बड़ा सौभाग्य मेरा है क्योंकि मुझे आप दोनों का प्रेम प्राप्त है। वस्तुतः गोस्वामीजी उस वाटिका में श्रृंगार के साथ जिस वात्सल्य और करुणा की सृष्टि करते हैं उसका अभिप्राय यह है कि भगवान् की दृष्टि जीव की ओर कैसे जाये और निरन्तर उसका संग और रक्षा कैसे प्राप्त हो इसकी चिन्ता गोस्वामीजी को इतना सताती है कि वे श्रृंगार रस की पूर्णता की परवाह किये बिना कह देते हैं कि आप आंख बन्द करती हैं तो केवल प्रियतम को देखती हैं पर आंख खोलकर देखेंगी तो आपको श्री राम के साथ जीव भी तो दिखाई देगा। इस तरह से गोस्वामीजी ने श्रृंगार के साथ वात्सल्य और करुणा की सृष्टि करके हम जैसे स्वार्थी जीवों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

८

पुष्पवाटिका-प्रसंग में गोस्वामीजी जिस दिव्य रस की सृष्टि करते हैं और उस दिव्य रस के पीछे उनका जो विशिष्ट भाव विद्यमान है उसे हम हृदयंगम करें। पिछले प्रवचन में कहा गया है कि यों देखें तो श्री रामचरितमानस में शुद्ध शृंगार रस का प्रसंग नहीं है। शृंगार के साथ करुणा और वात्सल्य के भावों का मिश्रण किया गया है। उद्देश्य यह है कि चाहे भोजन के षड्रस हों या काव्य के नवरस, दोनों के साथ एक समस्या जुड़ी हुई है। भोजन स्वादिष्ट हो यह प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट है, भोजन में स्वाद की अनुभूति होना किसे प्रिय नहीं लगेगा ? लेकिन भोजन में रस की, स्वाद की अनुभूति के बाद अगर शारीरिक स्वास्थ्य पर उसका बुरा प्रभाव पड़े तो उस भोजन को हम आदर्श भोजन नहीं मान सकते; क्योंकि वह स्वाद की सृष्टि करने के तत्काल बाद रोग की सृष्टि करता है। जो समस्या भोजन में षड्रसों के साथ है वही मन को लेकर नवरसों के साथ भी है। काव्य के नवरसों के द्वारा उसके अनोखे आनन्द का बोध व्यक्ति के मन में होता है, रस का बोध होता है। किन्तु वहां भी यही प्रश्न है कि हमें केवल रस का ही बोध न हो, कहीं रस की वह अनुभूति हमारे स्वास्थ्य को नष्ट न कर दे। भोजन में शारीरिक स्वस्थता की समस्या है और मन में समस्या मानसिक स्वास्थ्य की है। रस ने यदि हमारे अन्तर्मन पर ऐसा प्रभाव डाला कि हमें तत्काल तो कविता में रस और आनन्द की अनुभूति हुई पर बाद में हमारा मन अस्वस्थ हो गया, उसमें विकारों का उदय हो गया तो कवि का काव्य सच्चे अर्थों में अपने उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं कर पायेगा। इसके लिए रामचरितमानस में एक बड़ा ही सांकेतिक प्रसंग चुना गया है और वह प्रसंग भी शृंगार रस का ही है। शृंगार रस का उक्त प्रसंग जहां सम्पन्न होता है वह भूमि है चित्रकूट की वनस्थली। जो लोग चित्रकूट गये होंगे उन्होंने स्फटिक शिला का पवित्र स्थान अवश्य देखा होगा। स्फटिक

शिला की लीला का ही वर्णन गोस्वामीजी सूक्ष्म रूप में करते हैं। यह लीला चित्रकूट की है और चित्रकूट की अधिकांश लीलाओं का वर्णन अयोध्याकाण्ड में किया गया है। किन्तु अयोध्याकाण्ड में जिस लीला का वर्णन किया जाना चाहिए, गोस्वामीजी उसका वर्णन अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में करते हैं। यह विचित्र चुनाव है और इतना ही नहीं उस लीला का वर्णन करने के बाद अगला प्रसंग गोस्वामीजी यह प्रस्तुत करते हैं कि भगवान् राम के मन में चित्रकूट छोड़कर आगे बढ़ने का संकल्प जाग्रत हुआ और वे महर्षि अत्रि की आज्ञा लेकर चित्रकूट छोड़कर दण्डकारण्य की ओर चले गये। यह कोई संयोग-मात्र नहीं बल्कि इसके पीछे गोस्वामीजी का एक विशेष दर्शन है। पहले गोस्वामीजी श्रृंगार रस का वर्णन करते हैं और उस प्रसंग में उस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं जब श्रृंगार हमारे मन में कभी-कभी भौतिक भावना की सृष्टि कर देता है तो उसका क्या परिणाम हो सकता है। इसका चित्रण वे अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में करते हैं। चित्र है स्फटिक शिला का। रामचरितमानस में भी गोस्वामीजी ने वर्णन किया है किन्तु गीतावली रामायण में उन्होंने अधिक विस्तार से बड़ा मधुर चित्र खींचा है। उस चित्र में वे कहते हैं :

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु-तमाल।

गीतावली, २/४४

यह चित्रकूट वन की लीला है। महाराज श्रीजनक का बाग तो निर्मित बाग है और वन स्वतः उद्भूत है। बाग लगाया जाता है, वन लगाया नहीं जाता। वृक्ष लगाये जा सकते हैं पर वन तो सहज रूप से प्रादुर्भूत है। गोस्वामीजी ने प्रेम की तीन स्थितियों का वर्णन किया है और तीनों स्थितियों की तुलना वे वाटिका, बाग और वन से करते हैं। वे कहते हैं :

पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥ १/३७

गोस्वामीजी इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह लेते हैं कि मनुष्य के मन में जब प्रेम उमड़ता है तो वह बहुधा शारीरिक चिह्न के रूप में, अथवा

आंखों के आंसुओं के रूप में प्रकट होता है। अतः गोस्वामीजी कहते हैं कि पुलक के तीन भेद हैं—वाटिका, वाग और वन। वाटिका का तात्पर्य है जिसमें फूलों और पुष्पों के छोटे-छोटे पौधे लगाये गये हैं, और वाग में पुष्पों के छोटे-छोटे पौधे ही नहीं अपितु विशाल वृक्ष भी लगाये गये हैं, एवं वन तो ऐसा विशाल रूप ग्रहण कर चुका है कि वहां वृक्ष लगाने की अपेक्षा नहीं है, बलिक चारों ओर जिधर दृष्टि डालें उधर वृक्ष-ही-वृक्ष दिखाई देते हैं। ठीक इसी प्रकार से प्रेम का भी मनुष्य के अन्तर्जीवन में, भक्त के जीवन में क्रमिक विकास होता है। उक्त विकास का क्रम यह है कि जब हम अपने अन्तर्मन में प्रेम का बीजारोपण करते हैं तो मानो प्रेम की वाटिका हमारे हृदय में लग गई और तत्पश्चात् जब प्रेम के भाव वृद्धिगत हो गये तो प्रेम मानो बाग के रूप में परिणत हो गया। परन्तु वाटिका और बाग दोनों की रक्षा का प्रयत्न करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रेम के आरम्भिक साधन-काल में जब हम उसमें बीज डालते हैं और मध्य काल में जब प्रेम पनपता है तो व्यक्ति को निरन्तर उसकी रक्षा में संलग्न रहना पड़ता है। लेकिन जीवन में एक दिन ऐसा आता है जब प्रेम वन के समान विशाल हो जाता है और फिर व्यक्ति के लिए साधन का प्रश्न नहीं रह जाता। सहज रूप से वह वन व्यक्ति को आनन्दित करता है और इसी तरह यहां पर भगवान् श्री राम की लीलाओं का विस्तार भी सांकेतिक रूप में किया गया है। जनकजी की उक्त वाटिका, वाटिका भी है और बाग भी। पिछले प्रवचनों में यह संकेत दिया गया है कि उस वाटिका-प्रसंग में क्रमशः यह दिखाया गया है कि भक्ति की साधना कैसे की जाती है। भक्ति-साधना के श्रीगणेश से लेकर भगवान् श्री राम के दर्शन और उन्हें हृदय में स्थान देने के क्रम का वर्णन वाटिका और बाग में किया गया है। श्रृंगार रस की इस लीला का विस्तार गोस्वामीजी चित्रकूट के वन से करते हैं। चित्रकूट के वन को गोस्वामीजी प्रेम का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि महाराज श्री जनक की वाटिका में कर्त्तव्य और मर्यादा का कुछ-न-कुछ व्यवधान तो बना ही हुआ है और वहां जब श्री सीताजी भगवान् श्री राम के दिव्य दर्शन में तल्लीन हो जाती हैं तो सखियों को भी यह स्मृति आती है कि सुनयना अम्बा प्रतीक्षा कर रही होंगी और यदि जाने में विलम्ब होगा तो वे पूछेंगी

कि वाटिका में पूजन में इतना विलम्ब कैसे हुआ ? जब वे श्री किशोरीजी से अनुरोध करती हैं तो उनका यह भय वाणी द्वारा प्रकट भी हो जाता है :

पुनि आउब एहि बेरिआं काली । १/२३३/६

कल इसी समय फिर आयेंगे । कल का आश्वासन देकर सखी उन्हें उस प्रेमरस से अलग करके संसार की मर्यादा की ओर लाने की चेष्टा करती है । श्री सीताजी प्रेम और मर्यादा का दिव्य समन्वय प्रस्तुत करती हैं जिसकी चर्चा करने की हम चेष्टा करेंगे । एक ओर है मर्यादा और दूसरी ओर प्रेम । भक्ति में दोनों का समन्वय है या वह एकपक्षीय वस्तु है ? किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि भक्ति की रीति क्या है ? इसका उन्होंने दोहावली रामायण के एक दोहे में वर्णन करते हुए कहा कि भक्ति का पथ इस तरह का है—**प्रीति रामपद,** भगवान् राम के चरणों में प्रीति तो हो पर संसार में, संसार से व्यवहार कैसे करें ? उन्होंने कहा कि—**प्रीति रामपद नीति मंह,** संसार से व्यवहार करने में नीति का ध्यान रखें और भगवान् के चरणों में प्रीति हो। यहां यही समन्वय दिखाई देता है । श्री सीताजी को लक्ष्य कर सखियां परस्पर एक-दूसरी से कहती हैं :

भयउ गहरु सब कहहिं सभीता ।। १/२३३/५

सुनयना अम्बा से सब भयभीत हैं, मर्यादा और कर्त्तव्य-कर्म से भयभीत हैं और कहती हैं कि विलम्ब हो गया है, पर श्री सीताजी की भावना को ठेस न पहुंचे इसलिए सीधे ऐसा नहीं कहतीं कि विलम्ब हो रहा है, माता रुष्ट हो जायेंगी । वे बड़ी चतुराई से कहती हैं कि हम कल फिर आयेंगी । इस प्रकार का समन्वय जीवन में हम सभी को करना पड़ता है । प्रवचन की समाप्ति के समय एक बात मैं दुहरा देता हूं जो आप नित्य सुनते होंगे कि इससे आगे की चर्चा हम कल करेंगे । इसका कारण यह है कि आगामी कल और आज के बीच एक लम्बा व्यवधान है जिसमें आपको अनेक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना है किन्तु हमें यह विश्वास है कि हम कल फिर मिलेंगे और उस समय पुनः हम लोगों के जीवन में भगवद्रस का आदान-प्रदान होगा । इस प्रकार हमारा अन्तःकरण केवल कर्त्तव्य की ओर ही आकृष्ट न हो । जाना तो पड़ेगा

ही, उसकी मर्यादा की तो एक सीमा है ही पर उसके साथ-साथ हम जुड़े रहें कल से । प्रीति रस की उन दोनों अनुभूतियों के मध्य मर्यादा सुरक्षित रहे इस दृष्टि से चतुर सखी ने, जो उस चतुर सखी की ही भाषा है, तुरत कल का आश्वासन दे दिया । अभिप्राय यह है कि आप चिन्ता क्यों करती हैं, जब तक वे यहां हैं गुरुदेव के पूजन के लिए पुष्प लेने तो नित्य आयेंगे और हम लोग भी कल पुनः पूजन करने के लिए आयेंगी । अतः कल फिर दर्शन होगा, जिसका संकेत यह था कि अब तो चलिए । श्री सीताजी ने सखी की बात सुनी । अब उनके सामने एक ओर कर्त्तव्य-कर्म है, मर्यादा है और दूसरी ओर प्रीति है । श्री सीताजी ने अपने चरित्र के माध्यम से यह बताया कि उन दोनों का समन्वय जीवन में कैसे करना चाहिए । वहां चलने की एक अनोखी पद्धति का वर्णन किया गया है । नियम यह है कि जिस दिशा में हम चलते हैं उसी ओर हमारी दृष्टि रहती है और रहनी भी चाहिए । यदि हम चलें किसी ओर और देखें दूसरी ओर तो हम शायद फिसलकर या टकराकर गिर पड़ेंगे । इसलिए चलते हुए हमारी दृष्टि स्वाभाविक रूप से उसी दिशा में रहती है, बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि चलते समय चरणों और नेत्रों का संयोजन होना चाहिए । तात्पर्य यह कि चलने की क्रिया सम्पन्न होगी पैरों के द्वारा और मार्ग देखेंगे नेत्र, अतः जब दोनों मिलकर चलेंगे तो व्यक्ति गिरने के भय से मुक्त रहेगा । यदि कोई व्यक्ति गिर पड़ता है तो लोग कहते हैं कि पैर फिसल गया, लेकिन पैर फिसलने से पहले आंख फिसलने पर ही पैर फिसलता है । हम अगर सावधानी से नीचे की ओर देखकर पैर रखेंगे तो गिरेंगे नहीं । कर्म का भी ठीक यही रहस्य है । नेत्र ज्ञान का प्रतीक है । शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां मानी जाती हैं । नेत्र ज्ञानेन्द्रिय है और पैर कर्मेन्द्रिय । ईश्वर ने शरीर की रचना ऐसी की है कि हम सावधान रहें, जिससे हमारा कर्म और ज्ञान विरोधी दिशा में न जाकर एक ही दिशा में जाये । जब हमारा कर्म और ज्ञान अलग दिशा में जायेगा, हमारी ज्ञानेन्द्रिय किसी और दिशा में और हमारी कर्मेन्द्रिय किसी अन्य दिशा में चली गई तो बस समझ लेना चाहिए कि हम कहीं-न-कहीं गिरेंगे । इस दृष्टि से जीवन में कर्म और ज्ञान के समन्वय की बात तो देखने को मिलती है किन्तु जब व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाता तो गिरता है । परन्तु श्री सीताजी ने तो एक नई

पद्धति का आविष्कार किया जो बहिरंग दृष्टि से देखने पर अटपटी-सी प्रतीत होती है। श्री सीताजी चल तो रही हैं आगे की ओर पर देख रही हैं पीछे की ओर। गोस्वामीजी देखने की इस नई कला का वर्णन करते हैं, जहां ज्ञानेन्द्रिय कहीं अन्यत्र है और नेत्र कहीं और ? गोस्वामीजी कहते हैं :

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि। १/२३४

श्री सीताजी चल तो रही हैं वास-भवन की ओर, क्योंकि मर्यादा का निमन्त्रण है, सखियां माता की स्मृति दिला रही हैं और इस दृष्टि से चरण उस दिशा में बढ़ रहे हैं। लेकिन चरण जिस दिशा में बढ़ रहे हैं, क्या नेत्र भी वहीं रहने चाहिए ? श्री सीताजी पलटकर पीछे की ओर देखती हैं और इस पर सखियां पूछती हैं कि आपने चलने का यह कौन-सा अनोखा क्रम अपनाया है कि आप आगे चलते हुए पीछे की ओर देखती चल रही हैं ? इसके उत्तर में श्री सीताजी कहती हैं कि इस वाटिका के वृक्ष इतने सुन्दर हैं कि उन्हें लौट-लौटकर देखने का मन होता है; यह मृग इतना सुन्दर है कि उसे पुनः एक बार देखना चाहती हूं या यह पक्षी कितना सुन्दर है जिसे मैं देख रही हूं। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि यह तो बहाना था। वस्तुतः जब उन्हें भगवान् राम के चरण देखने होते हैं तो सखियों से कहती हैं कि देखो-देखो, वह मृग कितना सुन्दर है; जब भगवान् राम के शरीर का सौन्दर्य देखना होता है तो सखियों से कहती हैं कि देखो, वह तमाल-वृक्ष कितना सुन्दर है, उसका रंग कितना सुन्दर है और जब भगवान् के मुख की ओर देखना होता है तो कहती हैं कि देखो वह पक्षी कितना सुन्दर है। इसका अभिप्राय यह है कि अगर हम अपने ज्ञान को अपने चरण से जोड़े रहें तो गिरने का भय मिट जायेगा। इसको और आगे बढ़कर सोचें। यदि हम नेत्रों और चरणों को मिलाकर नहीं चलेंगे तब तो गिरेंगे ही पर जो लोग चरणों और नेत्रों को मिलाकर चलते हैं वे भी गिरते देखे जाते हैं। कभी-कभी आप संभाल-कर नीचे पैर रख रहे हैं फिर भी इतनी फिसलन है कि आप अपने को नहीं रोक पाते। क्योंकि नेत्रों में केवल दिखाने की सामर्थ्य है, रोकने की सामर्थ्य नहीं। अतः श्री सीताजी कहती हैं कि नेत्रों के द्वारा केवल मार्ग को देखना ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र चरण दिखाना तो जानते

हैं पर फिसलनेवाले को उठाना और रोकना नहीं जानते। इसलिए अगर नेत्र लगाना है तो उस प्रभु की ओर लगा लो जो फिसलनेवाले को रोकना भी जानते हैं। अगर ज्ञान को ले जाना है, ज्ञानेन्द्रिय को समर्पित करना है तो उन्हें भगवान् में तल्लीन कर देना चाहिए, अर्थात् हमारी दृष्टि ईश्वर की ओर रहे और चरण संसार की ओर रहें, व्यवहार और कर्म हम संसार का करें पर एक क्षण के लिए भी हमारी दृष्टि ईश्वर की ओर से न हटे, और श्री सीताजी ने इन दोनों का समन्वय किया। किन्तु प्रश्न उठता है कि ईश्वर कैसे दिखाई देगा तो श्री सीताजी ने इसका भी संकेत कर दिया। यदि हम भक्तिदेवी से देखनेवाली दृष्टि पा लें तो मृग तो दिखाई देगा न, पक्षी तो दिखाई देंगे न और वृक्ष तो दिखाई देंगे न! श्री सीताजी मूर्त्तिमती भक्ति हैं और इन भक्तिदेवी के द्वारा उस वाटिका में हम ईश्वर को देखना सीखें। ईश्वर के होने की अनुभूति ही यथेष्ट नहीं है, ईश्वर को देखनेवाली दृष्टि भी हमें चाहिए। ईश्वर को देखनेवाली दृष्टि यदि व्यक्ति के पास न हो तो ईश्वर के सामने होने पर भी उसके अन्तः-करण में रसानुभूति नहीं होगी। रामायण में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। रावण यद्यपि बीस नेत्रवाला है पर बीस नेत्रवाला होते हुए भी भगवान् राम को देखकर उसके अन्तर्मन में कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। रावण के पास भले ही भौतिक दृष्टि से बीस आंखें हों लेकिन अंगद ने रावण को उपाधि दे दी। रावण की सभा में अंगद उसके मुख की ओर बड़ी व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखता है और रावण सोचता है कि यह मेरी ओर इतनी व्यंग्य-भरी दृष्टि से क्यों देख रहा है। जब रावण ने पूछा तो अंगद ने कहा कि हनुमानजी ने कहा है कि लंका में जितनी अद्‌भुत वस्तुएं हैं उनमें सबसे अधिक अद्‌भुत वस्तु वहां का स्वामी रावण है। सौ कोस की लंका लोगों को आश्चर्य-जनक लगती है पर मुझे लंका में रावण जितना अद्‌भुत लगा उतना कोई नहीं लगा। रावण के यह पूछने पर कि मुझमें क्या अद्‌भुतता लगी, इस पर अंगद ने कहा कि हनुमानजी ने बताया कि मुझे लंका में एक बीस आंखवाला अन्धा और बीस कानवाला बहरा मिल गया। ऐसा देखा जाता है कि जिनके पास दृष्टि का अभाव होता है उनके कान इतने सजग होते हैं कि वे ध्वनि या शब्द सुनकर पहचान लेते हैं, पैर की ध्वनि से पहचान लेते हैं किन्तु रावण के बारे में उन्होंने

कहा—**बीसहुं लोचन अंध**, बीस आंखवाले तुम अंधे हो, और दूसरे प्रसंग में कहा गया—**अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस**, अंधे और बहरे भी जैसी बात नहीं करते उस प्रकार की बात तुम कर रहे हो। अभिप्राय यह है कि रावण अपनी आंखों से ईश्वर को न देख पाने के कारण अन्धा है और दूसरों के समझाने पर, सुनकर भी वह श्री राम के ईश्वरत्व को स्वीकार नहीं करता, इसलिए बहरा है। अतएव ईश्वर का केवल एक व्यक्ति के रूप में सामने आ जाना ही यथेष्ट नहीं। रावण जब अपनी बीस आंखों से भगवान् श्री राम की ओर देखता है तो उनके सभी चरित्रों और प्रत्येक घटना में अपनी पैनी दृष्टि से दोष निकालता है। वह अन्धा भगवद्दर्शन में है, दोष-दर्शन में नहीं, दोष देखने की शक्ति तो अन्य लोगों से बीस गुनी अधिक उसके पास है। जब रावण के सामने भगवान् राम का चरित्र सुनाया जाता है तो रावण तुरत उसकी एक नई व्याख्या कर देता है। अरे, श्री राम ने तो ताड़का का वध कर दिया। यह सुनकर रावण कह देता है कि हां-हां, नारी का वध करनेवाले तो तुम लोगों की दृष्टि में वीर हैं, जिसने नारी पर बाण का प्रहार किया वह कितना दुर्बल क्षत्रिय धर्म का पालन करनेवाला है, इसमें भला क्या विशेषता है। श्री राम ने धनुष तोड़ दिया तो रावण कहता है कि इसका अर्थ यह है कि वह शिवद्रोही है। धनुष तो मैं भी तोड़ सकता था। जब मैंने कैलास पर्वत को उठा लिया तो क्या मेरे लिए धनुष को उठाकर तोड़ना कठिन था ? पर मैं क्या करूं, मुझे जब यह ध्यान आया कि यह तो हमारे गुरुदेव की वस्तु है, और इसको तोड़ना गुरुदेव का अपमान करना है तो मैंने शक्ति होते हुए भी धनुष नहीं तोड़ा। और वह कितना शिवद्रोही है कि उसने विवाह के लिए धनुष तोड़ दिया। इस प्रकार प्रत्येक घटना को वह एक तर्क और दोष-भरी दृष्टि से देखता है। लोगों ने कहा, श्री राम इतने बड़े त्यागी हैं कि उन्होंने अयोध्या के सारे राज्य का परित्याग कर दिया तो रावण उसकी अभिनव व्याख्या कर देता है :

अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास। ६/३१

पिता ने देखा कि लड़के में कोई गुण, कोई योग्यता नहीं है तो उसे घर से निकाल दिया। अयोग्य पुत्र होने पर भी पिता पुत्र को घर से नहीं

निकालता, किन्तु राम नितान्त अयोग्य रहे होंगे तभी तो दशरथ ने उसका परित्याग कर दिया। दशरथ-जैसे उदार पिता ने भी जिसका त्याग कर दिया उसमें कितनी अयोग्यता रही होगी इसकी कल्पना कर लो। अत: रावण हर घटना की ऐसी व्याख्या करता है कि श्री राम का चरित्र दोषयुक्त है। इस सम्बन्ध में रामचरितमानस और गीता में भी बड़ा सुन्दर संकेत आता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में अपना प्रचार करनेवालों के लिए कहा कि जो लोग गीता-ज्ञान का प्रचार करते हैं, उनसे बढ़कर प्रिय मुझे कोई नहीं है। ऐसा कहकर उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को गीता-ज्ञान के प्रचार के लिए प्रेरणा दी। लेकिन उसके साथ-साथ अर्जुन से यह भी कह दिया कि यह गीता-ज्ञान कुछ लोगों को नहीं सुनाना चाहिए। भगवान् कहते हैं :

इदं ते नातपस्काय ना भक्ताय कदाच।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

गीता, १८/६७

जो मुझ में असूया रखते हैं उनको मत सुनाना। असूया रखते हैं मत सुनाना का क्या तात्पर्य है? असूया शब्द का अर्थ है—पर गुणेषु दोषा... कर्णं असूया, दूसरे के गुण में भी दोष निकाल देना असूया है। कुछ लोगों की यह प्रकृति देखी जाती है कि जब भी किसी की प्रशंसा या सद्गुणों की चर्चा की जाये तो वे तुरन्त कह देंगे कि तुम्हें क्या पता इसके पीछे क्या रहस्य है। और वे पीछे का ऐसा रहस्य बता देंगे कि सारा गुण, दोष के रूप में परिणत हो जायेगा, यह असूया-वृत्ति है। अत: भगवान् स्पष्ट कह देते हैं कि गीता-ज्ञान का प्रचार करना पर असूयावालों के सामने मत करना। क्योंकि वे जानते हैं इसलिए भगवान् अर्जुन से कहते हैं :

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। गीता, १८/६६

सब धर्मों को छोड़कर तुम मेरी शरण में आ जाओ। रामचरितमानस में भगवान् राम काकभुशुण्डिजी से कहते हैं :

सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही। ७/८५/२

सब-कुछ छोड़कर तुम मेरा भजन करो। इसलिए जिसके अन्त:करण

में असूयावृत्ति होगी वह तो तुरत कहेगा कि ये कितने स्वार्थी हैं कि सब-कुछ छोड़कर मुझसे अपने चरणों की सेवा और अपनी भक्ति करने के लिए कह रहे हैं। इसलिए भगवान् ने सावधान कर दिया कि यह असूया-वृत्तिवालों से कहने योग्य नहीं है। जबकि रावण तो असूया-वृत्ति से भरा हुआ है, और रामचरितमानस में आता है कि रामकथा मन्दाकिनी हैं—**राम कथा मन्दाकिनी**। आप सुन चुके हैं और जानते ही होंगे कि मन्दाकिनी नदी को अनसूयाजी ने प्रकट किया था और अनसूया का अर्थ है जिनमें असूया का अभाव हो। इसका अभिप्राय यह है कि चाहे भगवान् का सौन्दर्य हो या गुण अथवा चाहे भगवान् की कथा हो, जिसके अन्तःकरण में असूया-वृत्ति होगी वह तो हर गुण में कोई-न-कोई दोष निकालकर निन्दा करेगा। रावण को भगवान् की मंगलमयी कथा सुनानेवाले कितने कथावाचक मिले ! हनुमानजी-जैसा उत्कृष्ट कथा सुनानेवाला रावण को कथा सुनाता है। साधारण वक्ताओं की कथा का प्रभाव भी श्रोता पर पड़ता है परन्तु हनुमानजी-जैसा व्यक्ति कथा सुनाता है और उसका प्रभाव रावण के चित्त पर नहीं पड़ता। क्योंकि रावण के चरित्र में तो असूया की नदी बह रही है, और असूया की वह नदी इतनी गन्दी और मलिन है कि वह अनसूया द्वारा प्रवाहित रामकथा की मन्दाकिनी को भी मलिन बनाने की चेष्टा करती है। सामान्यतः देखा जाता है कि यदि कहीं नदी के स्वच्छ जल में बड़ा गन्दा नाला मिला दिया जाये तो उसका परिणाम यह होगा कि उस गन्दे नाले के जल के कारण नदी का जल भी गन्दा प्रतीत होने लगेगा। इसी प्रकार जिनके अन्तःकरण में असूया-वृत्ति का गन्दा जल बह रहा है वे भगवान् राम की रामकथा मन्दाकिनी में भी अपनी ही मलिनता देखते हैं और उस मलिनता को आरोपित कर देते हैं उस नदी पर। अतः बीस आंखोंवाला होते हुए भी रावण-जैसा व्यक्ति ईश्वर को नहीं देख पाता और अंगद कहते हैं कि रावण बीस आंखें होते हुए भी अन्धा है। रावण को जाने दीजिए किन्तु सती तो भगवान् शंकर की प्रिया हैं, शक्ति हैं पर इसके बावजूद साक्षात् भगवान् राम को सामने देखकर भी सती के अन्तःकरण में संशय का उदय होता है। रावण के हृदय में भी मोह उत्पन्न होता है और वह इस निश्चय पर पहुंचता है कि ये ईश्वर नहीं, मनुष्य हैं। बल्कि उसे ऐसा प्रतीत होता है कि ये तो मनुष्य ही नहीं हैं;

क्योंकि वह प्रत्येक बात को पाण्डित्य से, तर्कसगत ढंग से कहता है। रावण से किसी ने पूछा कि आपने यह कैसे समझ लिया कि राम को पिता ने निकाल दिया है ? उसने कहा, तुम लोग सुनी-सुनाई बात पर विश्वास करते हो, मैंने प्रत्यक्ष कसौटी पर कसकर देख लिया। तुम लोग कहते हो कि उन्होंने अयोध्या के राज्य का परित्याग कर दिया, लेकिन जो सोने के मृग का लोभ नहीं छोड़ पाया और उसके पीछे भागा वह भला राज्य का लोभ छोड़ सकता है ? वह इतना पागल और विवेकशून्य है कि यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति होता और उसे सोने के मृग का लोभ भी होता तो सोचता कि संसार में सोने का मृग तो नहीं होता। परन्तु वह इतना विवेकशून्य और कामी है कि पत्नी के एक बार कह देने पर कि मेरे लिए सोने का मृग ला दीजिए वह उसके पीछे भागा, इसलिए उसमें तो काम-क्रोध-लोभ की पराकाष्ठा है। ऐसा व्यक्ति कदापि ईश्वर नहीं हो सकता। रावण तो निश्चित रूप से इस निर्णय पर पहुंच चुका है कि राम ईश्वर नहीं मनुष्य हैं। और सती ? भगवान् राम की कथा से वंचिता सती लौटकरआती हैं औरभगवान् राम को देखती हैं पर भगवान् राम ऐसे अवसर पर मिलते हैं जब वे श्री सीताजी के वियोग में आंसू बहा रहे हैं और आंसू बहाते हुए लता-वृक्षों से सीताजी का पता पूछ रहे हैं। और शंकरजी ? श्री राम तो वही हैं पर देखनेवाले की आंख में कितना अन्तर है ! शंकरजी ने ज्यों ही देखा :

जय सच्चिदानन्द जग पावन।
अस कहि चलेउ मनोज नसावन ॥ १/४९/३

जय सच्चिदानन्द की, जय जगपावन की कहते हुए **मनोज नसावन** चल पड़े। यहां गोस्वामीजी विरोधाभास कर रहे हैं। रावण की मान्यता है कि श्री राम कामी हैंऔर शंकरजी हैं काम को जलानेवाले। जो स्वयं काम को जलानेवाला है, क्या वह उसकी भक्ति करेगा जो काम का गुलाम होगा ? अगर श्रीराम कामासक्त होते तो क्या कामारि के लिए यह कभी सम्भव है कि उनकी भक्ति करें ? अतः शंकरजी जब भगवान् राम को विलाप करते देखते हैं तो बड़े प्रसन्न होते हैं और उन्हें साधुवाद देते हैं। वे भगवान् राम को साधुवाद क्यों दे रहे हैं ? इसका उत्तर यही है कि जैसे किसी अभिनेता को आप

रंगमंच पर बढ़िया अभिनय करते देखें तो बाद में उसे बधाई देते हैं कि भई, आपने तो बहुत अच्छा अभिनय किया, बड़ा सशक्त अभिनय था। इसी प्रकार शंकरजी जब भगवान् राम को आंसू बहाते देखते हैं तो मन-ही-मन उल्लसित हो जाते हैं। वाह प्रभु, आपने कितना उत्कृष्ट अभिनय किया और अपने अभिनय के द्वारा सबको चकित कर दिया। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सचमुच यह प्रतीत होने लगा कि आपसे बढ़कर कोई कामी नहीं होगा पर इस अभिनय के द्वारा भी लोगों के मन में आप वैराग्य की ही सृष्टि कर रहे हैं :

कामिन्ह कै दीनता देखाई।
धीरन्ह कें मन बिरति दृढ़ाई।। ३/३८/२

कामियों की दीनता दिखलाकर आपने योगियों के मन में वैराग्य की सृष्टि कर दी। अभिप्राय यह है कि भगवान् राम विलाप करके मानों दूसरों को सावधान कर देना चाहते हैं कि स्वर्ण-मृग के पीछे भागने या आसक्ति में वचन स्वीकार करने से मुझे विलाप करना पड़ा है इसलिए यदि आप लोग भी इस प्रकार आसक्ति में पड़ेंगे तो उसका परिणाम यही होगा। शंकरजी तो समझते हैं कि प्रभु वैराग्य और राग-मुक्ति की शिक्षा देने के लिए ही यह अभिनय कर रहे हैं, सजग करने के लिए ही शिक्षा दे रहे हैं। किन्तु सती ? सतीजी को तो यही सन्देह हो गया था, वे तर्क के द्वारा ईश्वर को देखना चाहती हैं :

संकरु जगतबंद्य जगदीसा।
सुर नर मुनि सब नावत सीसा।।
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा।
कहि सच्चिदानन्द परधामा।।
भए मगन छबि तासु बिलोकी।
अजहुं प्रीति उर रहति न रोकी।। १/४९/६
ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।। १/५०

वे तर्क करने लग जाती हैं और तर्क करने के पश्चात् दृष्टि का अभाव होने के कारण उनके मन में संशय का उदय होता है। अर्थात् ईश्वर

को देखने के लिए अगर दृष्टि मोहग्रस्त होगी तो हम उसे पहचान ही नहीं पायेंगे क्योंकि मोह व्यक्ति को अन्धा बना देता है :

मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही। ७/६९/७

सती यक्ष-पुत्री हैं और इसका अभिप्राय कि हममें यदि बुद्धिमत्ता का गर्व होगा और तर्क के द्वारा ईश्वर की सिद्धि और उसके गुणों की परख करना चाहेंगे तो हमें भी सती के समान निराशा होना पड़ेगा। तीसरा उदाहरण है शूर्पणखा का। वह भगवान् राम के सौन्दर्य से प्रभावित दिखाई देती है, लेकिन क्या वह भगवान् राम के सौन्दर्य के अतिरिक्त उनके ईश्वरत्व को पहचान पाती है? नहीं पहचान पाती और इसीलिए शूर्पणखा जब यह कहती है कि तुम्हारे समान तो कोई सुन्दर पुरुष नहीं है और मेरे समान कोई सुन्दरी नहीं है, तो प्रभु ने तुरत शूर्पणखा के उक्त वाक्य का उत्तर इस रूप में दिया--**सीतहि चितहिं**, प्रभु ने सीताजी की ओर देखा मानो शूर्पणखा को यह संकेत किया कि अगर मुझे देखना चाहती हो तो पहले इनसे दृष्टि उधार लेकर तब देखो। तात्पर्य यह कि वासना की दृष्टि से, मोह की दृष्टि से, तर्क की दृष्टि से ईश्वर को देखने से वह दिखाई नहीं देगा। जब हम भक्ति की आंखों से भगवान् को देखेंगे तभी वह हमें ठीक-ठीक दिखाई देगा। इसलिए पुष्पवाटिका में सीताजी हम लोगों को देखना सिखाती हैं कि कितने प्रकार से भगवान् को देखा जा सकता है। यह प्रसंग अत्यन्त विस्तृत है और इसका वर्णन तो गोस्वामीजी तथा शंकरजी भी नहीं कर पाये, अतः मेरे लिए तो यह सम्भव ही कहां है! परन्तु गोस्वामीजी देखने की कलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर को देखने की सही कला सीखनी है तो सीताजी से आंख मांग लो। इसलिए रामचरितमानस और गीतावली रामायण में इसी भाषा का प्रयोग किया गया है। वन-मार्ग में भगवान् राम को जाते देखकर एक ग्रामवधू का शरीर रोमांच से भर गया, आंखों में आंसू आ गये और शरीर की सुधबुध जाती रही। उसकी सखी उसको स्नेह से जगाने लगी और पूछने लगी कि तुम्हें क्या हो गया है। इस पर उसने कहा कि देखो। दूसरी सखी कहने लगी कि देखा तो मैंने भी है। यह सुनकर भाव-विह्वल सखी ने कहा कि नहीं, ऐसे मत देखो, बल्कि—**बिलोकहु री सखि मोहि से हैं**, पहले मेरी तरह बन जाओ तब देखो।

यह मेरी तरह बन जाओ तब देखो का सांकेतिक तत्त्व यह है कि गांव की स्त्रियां श्री सीताजी से पूछती हैं कि ये आपके कौन हैं ? किन्तु क्या आप समझते हैं कि गांव की स्त्रियों को यह पता नहीं था कि सीताजी और राम का नाता क्या है ? श्री राम और श्री सीताजी के आने के पहले ही यह समाचार चारों ओर फैल चुका था कि अयोध्या के राजकुमार अपने छोटे भाई और पत्नी के साथ वन जा रहे हैं। इसलिए यह किसी से छिपा नहीं था कि श्री सीता और भगवान् राम का क्या नाता है। गांव की प्रत्येक स्त्री यह जानती थी कि व्यवहार की दृष्टि से ये पति-पत्नी हैं। फिर गांव की स्त्री यह क्यों पूछती है कि जरा बताइये, ये कौन हैं ? लक्ष्मणजी का परिचय तो श्री सीताजी ने वाणी से दे दिया और श्री राघवेन्द्र का परिचय वाणी से न देकर आंखों से दिया। अत: भौतिक दृष्टि से तो इसका भाव यह है कि लक्ष्मणजी का परिचय देने में कम संकोच हो रहा है और भगवान् राम का परिचय देने में अधिक संकोच हो रहा है, इसलिए एक के लिए वाणी का प्रयोग है और दूसरे के लिए नेत्रों का। यदि ज्ञान और अध्यात्म की दृष्टि से इसकी व्याख्या करें तो तात्पर्य यह हुआ कि जीव हैं लक्ष्मण और श्री राम हैं ब्रह्म; जीव वाणी का विषय है इसलिए उसका वाणी से वर्णन किया गया किन्तु ब्रह्म अनिर्वचनीय है इसलिए उसका वाणी से वर्णन नहीं किया गया। अगर प्रीति की दृष्टि से देखें तो श्री सीताजी हैं मूर्त्तिमती भक्ति और गांव की स्त्रियां अपनी दिव्य भावना लेकर उनके पास आकर बैठ गईं। श्री सीताजी द्वारा आंखों-ही-आंखों में परिचय देने का कारण यह है कि उनके पास बैठी हुई स्त्रियों की चाह यही थी। उन ग्रामीण स्त्रियों ने इन तीनों को ध्यान से देखा तो पहले लक्ष्मणजी की ओर दृष्टि गई क्योंकि सबसे पहले वही थे। उन्होंने देखा कि लक्ष्मणजी की दृष्टि कभी भगवान् राम के चरणों की ओर जाती है और कभी श्री सीताजी के चरणों की ओर :

छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुं लखनु चितु बन्धु मातु पितु गेहु॥ २/१३९

फिर सखियों ने श्री राम की ओर देखा। पहले जीव की ओर दृष्टि गई और लक्ष्मणजी ऐसे जीव हैं जो भगवान् और भक्ति के ध्यान में

डूबे हुए हैं। जब उन्होंने भगवान् राम की ओर देखा तो जो दृश्य दिखाई पड़ा, उसे गांव की स्त्री ने श्री सीताजी से परिचय पूछते समय और स्पष्ट कर दिया। वह स्त्री श्री राम की सुन्दरता का वर्णन कर गई। शृंगार रस में एक प्रकार की गोपनीयता होती है और जहां गोपनीयता है वहां मन में कहीं-न-कहीं ऐसा लगता है जैसे पाप की आशंका बनी हुई है। अतः यों कहा जा सकता है कि यह बड़ा अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है कि कोई नारी अगर किसी पुरुष का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाये और विशेष रूप से उस पुरुष के प्रति जो उसका पति नहीं, कोई अन्य है तो शायद ही वह कभी अपने सौन्दर्य के आकर्षण को वाणी का विषय बना सके। क्योंकि उसे मन में लगेगा कि किसी अन्य के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होना तो अपराध है, मर्यादा के विपरीत है। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण का भाव अगर मन में आ भी जाये, वाणी का विषय भी कभी बने तो कम-से-कम अपने पति के सामने उसका वर्णन वह नहीं कर सकती। लेकिन गोस्वामीजी ने कहा कि यहां का सौन्दर्य और शृंगार अनोखा है। श्री राम के सौन्दर्य पर गांव की स्त्रियां मुग्ध हो गईं और अपनी इस मुग्धता का वर्णन वे श्री सीताजी से करती हैं। इसका अभिप्राय है कि उनके मन में कहीं छल-कपट का लेश नहीं है, शृंगार में कहीं अश्लीलता और गोपन की कोई प्रक्रिया नहीं है। वर्णन भी इतना रसीला और मधुर है कि उसकी कोई सीमा नहीं। गांव की वह स्त्री श्री सीताजी से भगवान् राम का वर्णन करते हुए कहती है—**सीस जटा**, जिनके सिर पर जटा है। इस वर्णन से तो लगा कि जैसे वह भगवान् राम के शान्त रूप को देखकर मुग्ध हो गई है, पर आगे चलकर शान्त के बाद शृंगार आ गया—**सीस जटा उर बाहु बिसाल**, जिनका हृदय और जिनकी भुजाएं बड़ी विशाल हैं और—**बिलोचन लाल**, आंखों में जिनके लाली है, यह शृंगार और अनुराग की बात है।

सीस जटा उर बाहु बिसाल बिलोचन लाल तिरीछी सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरे तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं॥
कवितावली, २/२१

और सखी सुन्दरता का वर्णन करने के साथ-साथ कितनी बढ़िया बात कह गई कि ये जो इतने सुन्दर राघवेन्द्र हैं, वे क्या कर रहे हैं?

सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यौं...। कवितावली २/२१

बार-बार इनकी दृष्टि केवल आपके मुख की ओर जाती है, आपके मुख के अतिरिक्त ये तो कुछ देख ही नहीं रहे हैं। इतने लोग एकत्र हैं पर किसी की ओर दृष्टि नहीं है, ये बार-बार प्रेम से आपकी ओर दृष्टि डालते हैं। फिर सखी कहती है :

सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।

जब वे प्रेम से आपकी ओर देखते हैं तो हमारा मन मोहित कर देते हैं। अर्थात् हमारी यह चाह नहीं है कि वे हमारी ओर देखें, हम तो यही चाहती हैं कि वे आपकी ओर देखते रहें और इस प्रकार आपके प्रति इनके प्रगाढ़ प्रेम को देखकर हमारा मन धन्य होता रहे। श्री राम का सौन्दर्य आकर्षक है पर वे श्री सीताजी के अनुराग में डूबे हुए हैं और इसी कारण स्त्रियों के मन में इतनी प्रसन्नता है। तात्पर्य यह कि इस शृंगार में, इस प्रेम में ईर्ष्या-वृत्ति का कहीं लेश नहीं है, अन्यथा जहां ऐसा आकर्षण होता है वहां ईर्ष्या-वृत्ति तुरत आ जाती है। श्री राम की ओर संकेत करते हुए स्त्रियां कहती हैं—**सादर बारहि बार सुभाय,** सुभाय शब्द में और आनन्द है। वे कोई प्रयासपूर्वक नहीं देखते, लगता है उनकी आंखें इतनी अभ्यस्त हैं कि स्वभावतः आप ही की ओर जा रही हैं :

सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामबधू सिय सों सांवरे से सखि रावरे को हैं॥
कवितावली, २/२१

भला सोचिए भगवान् राम जिस दृष्टि से सीताजी को देख रहे हैं उससे पहचानने में अब क्या सन्देह है। किन्तु वे पूछ रही हैं—**पूछति ग्रामबधू सिय सों सांवरे से सखि रावरे को हैं।** बात यह थी कि सखियों ने दो की, लक्ष्मणजी और भगवान् राम की, दृष्टि को देख लिया पर सीताजी इतनी बड़ी भीड़ में श्री राम को कैसे देखें, वे तो बार-बार अपने ही चरणों की ओर देख रही हैं, संकोच के मारे नीचे की ओर दृष्टि किये बैठी हैं। इसलिए गांव की स्त्रियां जब श्री राम का वर्णन करते हुए पूछती हैं कि बताइये ये कौन हैं, तो उनका तात्पर्य यह है कि आप जरा इनकी ओर देखिए तो जिससे यह भी

तो पता चल जाये कि आप इनको कैसे देखती हैं ! परिचय देने के लिए जब आप दृष्टि उठाकर इनकी ओर देखेंगी तो उससे आपकी दृष्टि-भंगी का पता चल जायेगा। श्री सीताजी गांव की उन स्त्रियों की भावना को जान गईं, इसलिए उन्होंने भगवान् राम का परिचय जैसे उन्होंने चाहा वैसे ही दिया। वे यही तो चाहती थीं कि किसी तरह श्री सीताजी भी राम को देखें और गोस्वामीजी ने कहा कि श्री सीताजी ने सर्वथा विलक्षण और परिपूर्ण अभिनय किया :

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढांकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बांकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सियं सयननि ॥ २/११६/६

उन्होंने अपने मुख पर घूंघट डाल लिया और तिरछी दृष्टि से देखा। यह देखकर सखियां गद्गद हो गईं। ऐसा लगा जैसे दरिद्रों ने किसी राजा का खजाना लूट लिया हो। सखियों का कहना था कि हम अपनी आंखों से तो इन्हें देख रहीं हैं पर आप एक बार देखकर, जरा देखना सिखा दीजिए जिससे हम लोगों को असीम आनन्द आयेगा। हम लोग भी सीख जायेंगी कि ईश्वर को कैसे देखना चाहिए। वह दृष्टि तो आपके ही पास है। यदि वह दृष्टि आपके पास न होती तो वे आपके इतने वशीभूत कैसे हो जाते ? इसलिए भक्तिदेवी की आंखें यदि कहीं मिल जायें, श्री सीताजी कभी कृपा कर दें, भक्तिदेवी अनुकम्पा कर दें और हमारे अन्तःकरण में, हमारी आंखों में ऐसी प्रीति जगा दें जिससे उन आंखों से जब हम भगवान् को देखें तो फिर कहना ही क्या है ! इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने श्री सीताजी की निम्न प्रकार की दृष्टियों का वर्णन किया है—चकित दृष्टि, चिन्तित दृष्टि और थकित दृष्टि। पहले श्री सीताजी जब खोजने के लिए चलती हैं तो गोस्वामी जी कहते हैं कि श्री सीताजी की दृष्टि चकित है, इसके बाद कहते हैं कि चिन्तित है, फिर कहते हैं कि थकित है और अन्त में कहते हैं कि प्रलुब्ध है :

चितवति चकित चहूं दिसि सीता। १/२३१/१

श्री सीताजी चारों ओर देख रही हैं। हम लोग भी तो चारों ओर

देखते हैं और श्री सीताजी भी चारों ओर देख रही हैं पर अन्तर यह है कि चारों ओर देखना ही सार्थक नहीं है। प्रश्न तो यह है कि चारों ओर देखकर आप किसे खोज रहे हैं, किसे ढूंढ़ रहे हैं ? हम लोग जब चारों ओर देखते हैं तो चारों ओर की वस्तुओं पर दृष्टि चली जाती है, मकान है तो उधर दृष्टि चली जायेगी, व्यक्ति है तो उस पर दृष्टि चली जायेगी। श्री सीताजी चारों ओर देखती हैं पर आंखें खोज रही हैं एक को। यह भक्ति-साधना का श्रीगणेश है :

चितवति चकित चहूं दिसि सीता। १/२३१/१

कहां गये नृप-किशोर ? हम लोग तो अपने चारों ओर के संसार को ही देखते रह जाते हैं। चारों ओर देखते-देखते यदि यह बात ध्यान में आ जाये कि अरे, सब तो दिखाई दे रहा है पर वह बनानेवाला कहां चला गया, वह भी तो दिखाई दे। हम जब कोई रंगीन चित्र देखते हैं तो मन में प्रश्न उठता है कि यह किसने बनाया है और चित्रकार का नाम पूछते हैं। जबकि अधिकांश चित्रकार नीचे अपने हस्ताक्षर भी कर देते हैं। किन्तु, ईश्वर कितना बड़ा चित्रकार है ! उसने इतने चित्र बना दिये पर कहीं अपना नाम नहीं लिखा। सबसे बड़े चित्रकार के चित्रों को देखकर हम आनन्दित हो रहे हैं किन्तु चित्रकार की खोज नहीं कर रहे। श्री सीताजी चारों ओर खोज रही हैं। उनकी आंखों में कभी चकित भाव आता है, चिन्ता का भाव आता है, चिन्ता की भावना तो बार-बार आती है। बस, सबसे बड़ी चिन्ता मन में यही होनी चाहिए। हम लोगों की आंखों में जो चिन्ता आती है वह सर्पिणी बनकर आती है। गोस्वामीजी ने कहा :

चिन्ता सांपिनि को नहिं खाया।
को जग जाहि न ब्यापी माया ।। ७/७०/४

चिन्ता सर्पिणी यदि उस चिन्ता को भगवान् राम की ओर लगा दे तो कल्याण हो जाये। सर्प में मन का निवास है न, और इसका अभिप्राय है कि चिन्तातुर होकर यदि हम चारों ओर देखें तो भी चिन्ता का विनाश नहीं होनेवाला। लेकिन अगर हमारे अन्तःकरण की चिन्तके यह हो जाये कि अभी तक ईश्वर नहीं मिला और ईश्वर-प्राप्ति के

लिए हम चिन्तित हो जायें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी वह चिन्ता चिन्तामणि बन जायेगी। गोस्वामीजी ने कहा :

तुलसी चित-चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने।
विनय०, २३५

अत: पहले चकित दृष्टि है, फिर चिन्तित दृष्टि है और उसके पश्चात् भगवान् राम को सखियां दिखाती हैं :

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। १/२३१/३

वह देखिए, लता की ओट में श्री राम खड़े हैं। जब वे लता की ओट में श्रीराम को खड़े देखती हैं तो यह देखने की तीसरी कला है। प्रभु हैं तो पर हमसे दूर हैं और हमारे और उनके बीच में व्यवधान है। इसलिए भक्तिदेवी ने देखने की तीसरी कला बताई :

लोचन मग रामहि उर आनी। १/२३१/७

यदि हम कोई जड़ वस्तु देखते हैं तो हम जानते हैं कि वह वस्तु यहीं रहेगी। लेकिन ईश्वर तो चेतन है, इसलिए उस चेतन ईश्वर को बुलाकर अपने हृदयमन्दिर में क्यों न बैठा लें !

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।। १/२३१/७

श्री सीताजी नेत्र मूंद लेती हैं। गोस्वामीजी ने कहा—**देखि रूप लोचन ललचाने**, श्री सीताजी के नेत्र ललचा गये। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि संसार में हम वस्तु का लोभ करते हैं लेकिन अगर भगवान् के सौन्दर्य का लोभ उत्पन्न हो जाये और बार-बार हम उस सौंदर्य को लेते जायें किन्तु फिर भी तृप्ति न हो तभी नेत्रों की सार्थकता है। गोस्वामीजी फिर संकेत करते हैं कि श्री सीताजी की आंख की पुतलियां अचानक स्थिर हो गईं। इस सम्बन्ध में पौराणिक मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के नेत्रों में निमि राजा का निवास है और ये निमि राजा गुरु वशिष्ठ के शाप से प्रत्येक व्यक्ति की आंखों में रहते हैं और इसीलिए हमारी आंख की पुतलियां और पलकें निरन्तर गिरती रहती हैं। इसी कारण जब आंख की पुतली एक बार चलती

अथवा गिरती है तो कहते हैं कि एक निमेष हो गया। निमि से निमेष शब्द बना है। अतः गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् राम और श्री सीताजी जब मनुष्य के रूप में अवतरित हुए तो उनके नेत्रों में भी तो निमि हैं। किन्तु दोनों प्रसंगों में उन्होंने दो बातें कहीं। भगवान् राम ने श्री सीताजी के सौन्दर्य को देखा और उनके नेत्रों की पुतलियां स्थिर हो गईं। कोई अन्य कवि कह सकता है कि भई, सुन्दरता तो देखने के लिए है इसलिए एकटक देखा ही जाता है, परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान् राम जब श्री सीताजी की ओर देखने लगे तो निमि राजा स्वयं भगवान् राम की आंखों से चले गये :

भए बिलोचन चारु अचंचल।
मनहुं सकुचि निमि तजे दिगंचल॥ १/२२९/४

वस्तुतः निमि राजा के कुल में ही श्री सीताजी का जन्म हुआ था। अतः भगवान् राम श्री सीताजी को जिस भाव से देख रहे हैं उसमें निमि कैसे सम्मिलित हो सकते थे। जब श्री सीताजी की पुतलियां स्थिर हो गईं तो गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि क्या निमि राजा श्री सीताजी की आंखों से भी चले गये? गोस्वामीजी ने कहा कि निमि राजा यहां से तो नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि निमि राजा ने सोचा कि हम श्री सीताजी की आंखों में बैठकर श्री राम को देख सकते हैं लेकिन **पलकन्हि हूं परिहरीं निमेषें**, पलकों ने निमि से कह दिया कि महाराज, आप यहां से चले जायें तो अच्छा हो, क्योंकि आपकी उपस्थिति रस की परिपूर्णता में बाधक होगी। इस प्रकार गोस्वामीजी शृंगार की एक झलक दिखाकर, शृंगार-रस की सृष्टि करते-करते अन्त में वहां लाकर प्रसंग को समाप्त करते हैं जहां सखियां ध्यान दिलाती हैं कि घर भी तो चलना है, व्यवहार के कार्य का भी तो निर्वाह करना है। श्री सीताजी चलती हैं और मानो यह बता देती हैं कि भले ही हम संसार के व्यवहार का पालन करें, हमारा पग भले संसार की ओर चले पर हमारी आंखें ईश्वर के सौन्दर्य की ओर लगी रहें। इसका दूसरा तात्पर्य यह है कि श्री सीताजी चलते-चलते पीछे मुड़कर देखती हैं कि भगवान् श्री राम खड़े हुए अपलक दृष्टि से श्री सीताजी की ओर देख रहे हैं। तात्पर्य यह कि हम जीवन-पथ में

चलते हुए, संसार के व्यवहार का निर्वाह करते हुए भी मुड़कर देखते चलें कि ईश्वर की कृपा-दृष्टि हमारे पीछे है या नहीं, उसकी कृपा-दृष्टि के द्वारा हम सुरक्षित हैं या नहीं ! इस प्रकार श्री सीताजी नीति और प्रीति का समन्वय करती हैं, जिसका गोस्वामीजी ने दोहावली रामायण में इन शब्दों में वर्णन किया है :

प्रीति रामपद और नीति मग चलिअ राग रस जीति ।
तुलसी संतन के मते यही भगत की रीति ॥

दोहावली, ८६

लेकिन उस वाटिका के दिव्य शृंगार का गोस्वामीजी और विकास करते हैं चित्रकूट के वन में। इस प्रवचन के प्रारम्भ में कहा गया था कि पुलक के तीन भेद हैं, अर्थात् वाटिका माने जब प्रेम का श्रीगणेश हुआ, बाग माने जब प्रेम मध्य में आया और वन का तात्पर्य है जब प्रेम पराकाष्ठा को पहुंच गया। किन्तु उस वाटिका से भी घनीभूत शृंगार यदि कहीं पर है तो चित्रकूट में है। क्योंकि वहां पुष्पवाटिका में भगवान् राम ने गुरुजी के पूजन के लिए दोने में फूल चुने थे, और चित्रकूट में भी भगवान् राम फूल चुन रहे हैं। यहां विश्वामित्रजी साथ में नहीं हैं जो उनके पूजन के लिए फूल चाहिए। वस्तुतः ये फूल श्री सीताजी के पूजन के लिए चुने जा रहे हैं। यहां भगवान् राम पुजारी बन गये हैं, पूजा करेंगे इसलिए पुष्प चुनकर ले आते हैं। श्री राम केवल फूल लेकर ही नहीं आते बल्कि गोस्वामीजी उस अद्भुत दृश्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :

फटिकसिला अति बिसाल, संकुल सुरतरु-तमाल
ललित लता-जाल हरित छबि बितान की।
मन्दाकिनि-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की ॥

गीतावली २/४४

लक्ष्मणजी यहां पर भी हैं, लेकिन थोड़ी दूर हैं। कहां :

बिरचित तहं परनसाल,...

भगवान् राम और श्री सीताजी के रहने के लिए लक्ष्मणजी ने एक बड़ी सुन्दर कुटिया बना दी है :

बिरचित तहं परनसाल, अति बिचित्र लषनलाल,
निबसत जहं नित कृपालु राम जानकी।

भगवान् राम पत्तों का बहुत बड़ा गट्ठा उठाकर लिये चले आ रहे हैं। वहां तो केवल एक दोना था और उस दोने में फूल थे लेकिन आज तो वे न जाने कितने वृक्षों से पत्ते तोड़कर लाये हैं और भगवान् राम उन पत्तों को स्फटिक शिला पर बिछा रहे हैं। लक्ष्मणजी तो सेवा के लिए व्यग्र रहते ही हैं पर समझ गये कि मेरा वहां जाना उचित नहीं। इस शृंगार से वे दूर रहते हैं। गोस्वामीजी उस शृंगार का और विकास कर देते हैं :

निजकर राजीवनयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परसपर पीयूष प्रेम-पान की।
सिय अंग लिखें धातु राग...

गीतावली, २/४४

रंग-बिरंगी धातुओं से पत्र-रचना करते हैं और फूलों के आभूषण बनाकर श्री सीताजी को पहनाते हैं किन्तु देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त रघुनाथजी का बल देखना चाहता है। अतः वह कौआ श्री सीताजी के चरणों में चोंच मारकर भागा। उनके चरणों से रक्त बहता देखकर भगवान् राम ने—**सींक धनुष सायक संधाना**, एक सींक का धनुष और बाण बना लिया। जयन्त यह समझकर आया था कि इस समय तो इनके पास धनुष-बाण भी नहीं है पर भगवान् राम ने सींक का धनुष और बाण बना लिया। श्री सीताजी के लिए पुष्पों के जो गहने बनाये गये थे वे सींक में पिरोये गये थे और जिस सींक से भगवान् राम ने श्री सीताजी के लिए आभूषण बनाया था उसी से उन्होंने जयन्त के लिए भयानक बाण बना दिया। यहां भगवान् का तात्पर्य है कि मेरे पास कोमलता और कठोरता नहीं है। सीताजी के लिए जो पुष्प का कोमल शृंगार है वही जयन्त-जैसी वृत्तिवालों के लिए काल-कोदण्ड है। उसमें कोमलता और कठोरता दोनों ही हैं और वह बाण पीछे लग जाता है। ईश्वर मानो न्यायदाता के रूप में, जो भक्ति का विरोधी है, जिसका अन्तःकरण वासनायुक्त है, उसके पीछे बाण लगा देता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि अगर जयन्त को मार डाला जाता तो इस शृंगार की

परिणति हो जाती न्याय में। भगवान् राम द्वारा किये गये शृंगार को देखकर जयन्त मोहित हो गया था लेकिन उसके दण्ड की अन्तिम परिणति नहीं हुई। अतः गोस्वामीजी उस शृंगार की परिसमाप्ति करते हैं करुणा में :

नारद देखा बिकल जयन्ता।
लागि दया कोमल चित सन्ता॥ ३/१/६

संत के मत में करुणा आ गई। जयन्त भागा जा रहा है, नारदजी ने पूछा कहां जा रहे हो ? जयन्त ने उत्तर दिया कि देख नहीं रहे हैं महाराज, बाण पीछे लगा हुआ है। नारदजी ने कहा कि बाण क्यों पीछे लगा हुआ है ? मुझे मारने के लिए। बाण कहां-कहां पीछे लगा रहा ? जयन्त बोला कि जहां-जहां मैं गया वहां-वहां बाण पीछे लगा रहा। नारदजी ने कहा कि अगर मारने के लिए पीछे लगा हुआ है और तुम जहां जाते हो वहीं पर बाण जाता है तो यह तुम्हें मारता क्यों नहीं ? जयन्त ने कहा कि यही तो समझ में नहीं आ रहा है, पीछा कर रहा है किन्तु मार नहीं रहा। अतः सन्त ने तुरत तात्पर्य बता दिया कि ईश्वर की कठोरता में भी कृपा छिपी हुई है। अगर मारना होता तो वह जब चाहे मार देता। यह बाण तो तुम्हारे लिए ईश्वर का निमंत्रण लेकर आया है और जहां कहीं भी जाओगे काल पीछा करेगा। इसलिए जहां से वाण चला है उन चरणों में लौट चलो। तुरत लौटो, भागो मत, ईश्वर की ओर लौटो और ईश्वर के चरणों का आश्रय लो। उसने लौटते हुए पूछा कि महाराज, यदि भगवान् पूछें कि तुम्हें अगर लौट-कर आना ही था तो भागे क्यों थे ? अतः सन्त ने मन्त्र बता दिया। जब जयन्त भगवान् की ओर गया तो भगवान् ने जयन्त से पूछा कि तुम कहां गये थे भागे-भागे ? उसने कहा कि महाराज, मैं आपका प्रभाव देखाना चाहता था। अपने घर में तो सबका प्रभाव होता है, बाहर जिसका प्रभाव हो वही बड़ा है। मैं सभी लोकों में जाकर देख रहा था कि आपका कितना प्रभाव है। भगवान् ने पूछा कि देख लिया तुमने प्रभाव ? वह बोला कि हां महाराज, जहां भी मैं गया वहां पर आपका ही प्रभाव दिखाई पड़ा। भगवान् ने कहा कि अब यहां लौट-कर क्यों आये हो ? जयन्त ने उत्तर दिया कि आपका प्रभाव तो देख चुका पर सन्तों से जो स्वभाव सुना है वह स्वभाव देखना चाहता हूं।

और स्वभाव पास से दिखाई देता है और आपके स्वभाव की करुणा का :

कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही। ३/१/१०

भक्ति के अन्य ग्रंथों में आता है कि जयन्त जब गिरा तो घबराहट में भगवान् की ओर पीठ करके गिरा। अतः श्री सीताजी ने करुणा से प्रेरित हो उसे उठाकर भगवान् के चरणों में डाल दिया। वे इतनी करुणामयी हैं कि अन्ततोगत्वा उन्होंने कहा कि महाराज, अगर बालक मां के उदर में हो और उससे मां को कष्ट हो तो भी वह उसे दण्ड देने की बात थोड़े ही सोच सकती है। उस बालक को तो प्रकट होने, जन्म लेने के बाद मां वात्सल्य और लाड़ से बड़ा करती है। इसी प्रकार जयन्त मेरा ही अपराधी तो था, पर यदि मैंने उसके अपराध को क्षमा कर दिया तो आपको इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? अतः भगवान् जयन्त के अपराध को क्षमा कर देते हैं और श्रृंगार की समाप्ति करुणा में होती है। मानो गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि मैं श्रृंगार का विकास तो करता पर जयन्त-वृत्ति के कारण नहीं कर सका। अतएव श्रृंगार की परिसमाप्ति भगवान् की करुणा में है और इसका अभिप्राय यह है कि भक्तिदेवी के द्वारा ईश्वर का शौर्य प्रकट होता है और वह शौर्य ही अन्त में करुणा के द्वारा जीव के कल्याण का हेतु बनता है। इसी का संकेत देने के लिए पुष्पवाटिका-प्रसंग में भगवान् राम के इस दिव्य श्रृंगार के साथ वात्सल्य और करुणा को जोड़ दिया गया है।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

९

हृदयं सराहत सीय लोनाई।
गुर समीप गवने दोउ भाई॥
राम कहा सबु कौसिक पाहीं।
सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही।
पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही॥
सुफल मनोरथ होहुं तुम्हारे।
रामु लखनु सुनि भए सुखारे॥ १/२३६/१

भगवान् श्री रामभद्र की अतीव अनुकम्पा से नौ दिवसीय प्रवचनों का यह कार्यक्रम आज समापन की ओर है। आइये, श्री रामनवमी के पर्व पर जो कथा-प्रसंग चलता रहा है उस पर एक दृष्टि डालें।

श्री रामचरितमानस और भगवान् श्री राम, दोनों का जन्मदिवस आज ही है। मेरे मन में कभी-कभी यह प्रश्न उठता रहा है कि मैं श्री राम के चरित्र पर बोलूं या श्री रामचरितमानस के बारे में। यद्यपि दोनों एक-दूसरे से इतने घुले-मिले हैं कि दोनों में सर्वथा अभिन्नता ही है, लेकिन भगवान् श्री राम के अवतार, उनके जन्म से कम महत्त्व श्री रामचरितमानस के अवतरण का नहीं है। श्री रामचरितमानस का अवतरण आज ही के दिन हुआ था और जैसा कि श्री रामचरित-मानस के आरम्भ में गोस्वामीजी कहते हैं :

नौमी भौम बार मधुमासा।
अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥ १/३३/५

वास्तव में गोस्वामीजी से पहले भी श्री रामकथा यहां व्यापक रूप में लोकप्रिय थी। भगवान् राम के चरित्र पर इतने अधिक ग्रंथ लिखे गये हैं कि एक प्रसिद्ध कवि की उक्ति का मुझे स्मरण हो आता

है। जब एक नये कवि ने महाकाव्य की रचना का संकल्प लिया और उसने अपने ग्रंथ का नायक भगवान् राम को चुना तो किसी सहृदय काव्य-रसिक ने पूछा क़ि काव्य में तो पुनरुक्ति दोष मानी जाती है; एक ही बात या शब्द को दुहराना तो पुनरुक्ति है। विश्व के इतिहास में अगणित महापुरुष हुए हैं, अगणित श्रेष्ठ चरित हुए हैं, फिर श्रीराम को ही बार-बार दुहराना क्या पुनरुक्ति नहीं है ? इस पर उस कवि ने उत्तर दिया कि हां, दोष है पर कवि का नहीं। काव्य-रसिक ने कहा कि यदि कवि का दोष नहीं है तो फिर किसका दोष है ? इसके उत्तर में कवि कहता है :

स्वसूक्तिनाम पात्रः रघुतिलकमेक कलयताम्।
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानां अवगुणः ॥

इसमें कवियों का कोई दोष नहीं है, यह तो भगवान् राम के गुणों का ही दोष है कि वे कवि को बाध्य कर देते हैं अपने गुणगान के लिए। यहां पर 'गुण' शब्द में बड़ा सुन्दर संकेत भी है। 'गुण' यहां गुण (विशेषता) के अर्थ में भी है और संस्कृत में गुण रस्सी को भी कहते हैं। अतः जैसे किसी व्यक्ति को यदि रस्सी से बांध दिया जाये तो उससे जो करने को कहा जायेगा वही करने को वह बाध्य होगा। अतः कवि कहता है कि भगवान् राम के गुणों ने कवियों को इस सीमा तक बन्दी बना लिया है, बांध लिया है कि उस बन्दीपन के कारण बेचारे कवि बार-बार उन्हीं का गुणगान करने के लिए विवश हो जाते हैं। इस उक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि श्री राम का चरित्र, श्री राम के गुण कितने लोकप्रिय रहे हैं। हम इस बात पर ध्यान दें कि गोस्वामीजी ने श्री रामकथा का जो अवतरण किया उसमें विलक्षणता क्या है ? श्री राम के अगणित चरित्र लिखे गये और गोस्वामीजी ने भी एक और ग्रंथ की वृद्धि कर दी। अतः जिसे वास्तविक अर्थ में श्री रामकथा का अवतरण कहा जा सकता है वह गोस्वामीजी के माध्यम से ही हुआ। तात्पर्य यह कि भगवान् राम ईश्वर और साक्षात् देवाधिदेव होते हुए भी जब अयोध्या में अवतरित हुए तो मनुष्य बन गये। किन्तु भगवान् राम ने अवतरित होकर भले ही मनुष्य-शरीर स्वीकार कर लिया हो लेकिन उनका चरित्र देवभाषा में ही प्रतिष्ठित रहा, भगवान् जैसे देव से नर बने ठीक उसी प्रकार

भगवान् राम के चरित्र को देवभाषा से लोकभाषा में गोस्वामीजी ने अवतरित कर दिया। जिस प्रकार भगवान् श्री राम ने अवतरित होकर सुलभता की सृष्टि की थी उसी प्रकार श्री रामकथा की सुलभता गोस्वामीजी के माध्यम से होती है। जब भगवान् श्री राम का चरित्र गांव की, ग्राम्य भाषा में अवतरित हुआ तो गोस्वामीजी ने कहा : **गिरा ग्राम्य सिय राम जस**, अर्थात् यह भगवान् श्री राम के चरित्र का अवतरण है, और इस प्रकार श्री राम का चरित्र मानो जन-जन के लिए सुलभ हो गया। यों ग्रंथ के रूप में इसका प्रचलित नाम रामायण है पर रामायण नाम तो प्राचीन काल से प्रचलित होने के कारण दे दिया गया। गोस्वामीजी ने इसका नामकरण किया 'रामचरितमानस' और उसकी तुलना या तो वे मानसर से करते हैं या गंगा से। इसका तत्त्व यह है कि हम मन्दिर में भी देवता के दर्शन करके धन्य होते हैं, मन्दिर भी हमारी संस्कृति का महान् केन्द्र है, हमारी प्रेरणा के लिए वह दिव्य स्थल है पर मन्दिर में कुछ-न-कुछ बन्धन तो हैं ही। अर्थात् मन्दिर एक स्थान पर स्थित है, वहां तक चलकर जाना होगा, अतः देश की बाध्यता है; फिर यह पता लगाकर जाना होगा कि मन्दिर का द्वार कब खुला रहता है, अतः काल की बाध्यता है; और फिर वहां पहुंचकर भी एक मर्यादा है कि हम देवता के दर्शन तो कर सकते हैं पर उसे स्पर्श नहीं कर सकते। हम तो देवता को प्रणाम निवेदन करते हैं और वहां के पुजारियों के माध्यम से हमारी पूजा भगवान् के प्रति अर्पित की जाती है। इस प्रकार देश, काल और व्यक्ति की कुछ-न-कुछ दूरी तो बनी ही रहती है। किन्तु ठीक इसके प्रतिकूल गंगा और सरोवर की प्रकृति क्या है? जब राम-कथा की तुलना गोस्वामीजी गंगा से करते हैं तो भगवान् शंकर भी कहते हैं :

पूंछेहु रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा॥ १/१११/७

और गोस्वामीजी भी कविता की परिभाषा करते हुए कहते हैं :

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहं हित होई॥ १/१३/९

इसका तात्पर्य यह है कि गंगा एक स्थान पर स्थित न रहकर स्वयं देश का परिभ्रमण कर रही है और हिमालय की ऊंचाइयों से उतरकर नीचे प्रवाहित होते हुए अपने तटवर्त्ती लोगों को धन्य करती हुई सागर की ओर बह रही है। अर्थात् मन्दिर यदि अचल है तो गंगा चल है, मन्दिर का द्वार यदि समय पर खुलता है तो गंगा का तट चौबीसों घंटे खुला रहता है और मन्दिर में यदि कुछ-न-कुछ मर्यादा और व्यवधान है तो गंगा में उसका अभाव है। गंगा में किस जाति का व्यक्ति नहाये, किस समय नहाये, कितने निकट से नहाये, यह प्रश्न नहीं है। गंगा में गोता लगाकर प्रत्येक व्यक्ति धन्यता का अनुभव करता है, मानो देश, काल और व्यक्ति का जो यत्किंचित् व्यवधान था वह भी गंगा के माध्यम से दूर हो जाता है। अतः इसका अभिप्राय है कि गोस्वामीजी के पहले रामायण के रूप में रामकथा मानो देवभाषा के दिव्य मन्दिर में प्रतिष्ठित थी जिसका हम दर्शन तो कर सकते थे पर प्रत्येक व्यक्ति संस्कृत भाषा का पंडित नहीं होता इसलिए उसे देवभाषा से परिचित किसी विद्वान् का आश्रय लेना पड़ता था। और देवभाषा से परिचित व्यक्ति के लिए समय की मर्यादा तो होगी ही, क्योंकि जिनसे हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे किस समय हमें सुनायेंगे और इसके बाद सामनेवाला व्यक्ति एक भाषा के माध्यम से जो भिन्न है, अनुवाद के रूप में कहे जाने के बाद उसमें आनन्द तो आता है पर व्यक्ति दूसरे के माध्यम से सीधे उस रस को ग्रहण नहीं कर पाता। रामचरितमानस में गोस्वामीजी ने मानो इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि उन्होंने अपने गांव की भाषा में रामचरितमानस क्यों लिखा! इसका उत्तर उन्होंने काकभुशुण्डि और गरुड़ के सन्दर्भ में दिया। गरुड़जी ने शंकरजी से कहा कि कथा सुनाइये। उन्होंने कहा कि यदि तुम काकभुशुण्डि से कथा सुनो तो तुम्हारा भ्रम दूर हो जायेगा। इस पर पार्वतीजी ने भगवान् शंकर से पूछा कि आप तो रामकथा के इतने रसिक हैं और गरुड़ आपसे कथा सुनना चाहते थे पर आपने कथा नहीं सुनाई इसका कारण क्या है? भगवान् शंकर ने मीठी बात कही :

समुझइ खग खगही कै भाषा। ७/६१/६

× ×

तातें उमा न मैं समुझावा। ७/६१/७

मैंने सोचा कि पक्षी, पक्षी की भाषा में ही अच्छी तरह समझ सकता है। यों अगर देखा जाये तो शंकरजी भी देवभाषा के परम पण्डित हैं और ऐसा भी नहीं कि गरुड़ संस्कृत के महान् पण्डित नहीं हैं। बल्कि उनके विषय में तो यह मान्यता है कि वेद की ऋचा स्वयं उनके पंख से निकलती है, वे भगवान् के वाहन हैं। पर शंकरजी कहते हैं कि **समुझइ खग खगही कै भाषा**, और इसका अभिप्राय यह है कि अपनी भाषा का आनन्द ही कुछ और है, उसमें समझना बहुत सरल है। दूसरी भाषा अपने पाण्डित्य के द्वारा हम जान भले ही लें पर उसमें उतनी समरसता की अनुभूति नहीं हो सकती। मानो इसके द्वारा गोस्वामीजी ने उन लोगों को उत्तर दे दिया जो यह जानना चाहते थे कि उन्होंने देवभाषा के इस दिव्य ग्रंथ को गांव की भाषा में प्रस्तुत करने की आवश्यकता क्यों समझी ! अतः जन-सामान्य जिस बोली में बोलने का अभ्यस्त है उसमें अब सहज ही श्री रामचरितमानस के रूप में ऐसा ग्रंथ उपलब्ध है जिसमें भगवान् राम के चरित्र का अवतरण हुआ है जिससे प्रत्येक व्यक्ति लाभ उठा सकता है। इसीलिए अब भी ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे जो बिलकुल पढ़े-लिखे नहीं हैं पर रामचरितमानस की पंक्तियां उन्हें याद हैं, और उसकी कथा समझने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि आज का दिन इसलिए भी बड़े महत्त्व का है कि आज भगवान् राम का ही अवतार नहीं हुआ था बल्कि तुलसीदासजी ने चेष्टा की कि भगवान् राम के चरित्र का भी अवतरण हो और जैसे भगवान् राम नीचे उतर आये उसी प्रकार उनकी कथा भी नीचे उतर आई। भगवान् राम के चरित्र की जो विशेषता है, जिस सूत्र से पहले दिन की कथा प्रारम्भ की गई थी, रामचरितमानस की विशेषता भी वही है। जैसा कि पहले के प्रवचनों में कहा जा चुका है कि रामचरितमानस में भगवान् राम के व्यक्तित्व की तुलना बारम्बार सेतु से की गई है। भगवान् राम का व्यक्तित्व और चरित्र मानो सेतु है। सेतु का कार्य है नदी के दो किनारों को मिलाकर उनके मध्य में जो अन्तराल है उसे समाप्त कर देना। भगवान् श्री राम ने अपने व्यक्तित्व के द्वारा सचमुच इसी दूरी को आदि से लेकर अन्त तक पूर्ण किया, इसका गोस्वामीजी ने क्रमिक संकेत किया है। आप देखेंगे बालकाण्ड में गुरु वसिष्ठ और विश्वामित्र

और अयोध्याकाण्ड में गुरु वशिष्ठ तथा निषाद का मिलन होता है। उस समय की जो दिव्य संस्कृति थी गुरु वशिष्ठ उसके सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हैं। विश्वामित्र भी उतने ही बड़े महापुरुष थे किन्तु दोनों में दूरी थी। भगवान् राम ने दोनों का गुरु के रूप में वरण करके उनके बीच सेतु का कार्य किया और दोनों गुरुओं का मिलन हुआ। किन्तु इतने बड़े व्यक्तियों का मिलन हो जाना ही भगवान् राम के व्यक्तित्व की सार्थकता नहीं थी। अतः गुरु वशिष्ठ और विश्वामित्र को मिला देने में उतना बड़ा चमत्कार नहीं है जितना कि गुरु वशिष्ठ और निषाद का मिलन करा देने में है। निषाद का अर्थ है जो समाज में सबसे नीचे है। विश्वामित्र और गुरु वशिष्ठ तो बराबरी के थे और उन बराबरीवालों में जो दूरी थी उसे मिटाया गया पर गुरु वशिष्ठ और निषाद तो रामचरितमानस के अनुसार—**बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं** और निषाद के लिए—**एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं**। अतः जो सर्वोच्च है और जो सबसे नीचे है उनका मिलन हुआ। गोस्वामीजी ने कहा :

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ। २/२४३

इस प्रकार भगवान् राम सेतु बन गये मिलन कराने में पर यही पराकाष्ठा नहीं थी, सेतुत्व की पराकाष्ठा तो अन्त में उत्तरकाण्ड में हुई। उत्तरकाण्ड में किस रूप में हुई? भगवान् राम लंका से लौटे तो पशुओं को साथ में लेते आये। गुरु वसिष्ठ और विश्वामित्र का मिलन तो दो ब्राह्मणों का मिलन था किन्तु गुरु वशिष्ठ और निषाद का मिलन मानव-जाति में दो वर्णों का मिलन था। मनुष्य और पशु में कितनी बड़ी दूरी है, पर भगवान् राम अयोध्या किन्हें साथ लेकर आये? बन्दरों को, जो पशुओं में भी अत्यन्त चंचल और अत्यन्त हीन हैं। इस पर गोस्वामीजी से किसी ने कहा कि भगवान् कृष्ण तो इतने उदार हैं कि गायें चराते हैं पर आपके भगवान् तो राजाधिराज हैं। यह तो भक्तों की मीठी चुटकी है, दोनों एक ही हैं। अतः गोस्वामीजी ने कहा कि नहीं, भगवान् कृष्ण उदारता से गायें चराते हैं पर हमारे प्रभु तो बन्दरों को चराते हैं। गायें चराने में तो दूध मिलने की आशा भी की जा सकती है पर यदि कोई बन्दरों को चराये तो उसे क्या

मिलनेवाला है । अतः गोस्वामीजी ने कवितावली रामायण में भगवान् राम को नाम दिया—**वानर चरवाहे** ।

किसी ने तुलसीदासजी से उनके विषय में पूछा कि आपको तो पिताजी बड़ा अभागा समझते थे पर लगता है उनसे गणना करने में भूल हो गई तभी तो आपको अभागा मान लिया । इतने बड़े सिद्ध-सन्त के बारे में उन्होंने मान लिया कि यह बालक अभागा होगा । गोस्वामीजी ने कहा कि नहीं, बिलकुल ठीक बात है । क्योंकि ब्रह्मा ने तो मेरे मस्तक में कुछ लिखा ही नहीं था । उस व्यक्ति ने कहा कि ऐसा कैसे हो सकता है, जब ब्रह्मा सबके मस्तक में लिखते हैं तो आपके मस्तक में क्यों नहीं लिखा ? उन्होंने कहा कि ब्रह्मा कर्म का फल ही तो लिखते हैं, अच्छा कर्म होता है तो अच्छा फल लिख देते हैं और बुरा कर्म हो तो बुरा फल लिख देते हैं पर मेरे माथे पर लिखने में समस्या उठ खड़ी हुई । जब ब्रह्मा ने मेरे पूर्वजन्मों को देखा तो कोई अच्छा कर्म नहीं था ताकि अच्छा फल मेरे माथे पर लिखते, इसलिए अच्छा फल लिखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । अतः उन्होंने सोचा कि बुरा फल लिखें तो उन्होंने जब मेरे पूर्वजन्मों की बुराई का खाता खोला तो वह इतना बड़ा निकला कि उन्हें लगा कि इस छोटे-से पन्ने पर इतना बड़ा फल समायेगा नहीं इसलिए उन्होंने सोचा कि इसका मस्तक तो कोरा ही छोड़ देना चाहिए । इसलिए ब्रह्मा ने तो इस मस्तक को कोरा ही छोड़ दिया । वैसे कोरा छोड़ देने में एक लाभ था । जब पिताजी ने खाते को कोरा देखा तो लिख दिया कि इसमें भाग्य है ही नहीं, किन्तु कोरा पन्ना हो तो उस पर नये सिरे से भी तो कुछ लिखा जा सकता है । सो मेरे मस्तक के इस कोरे पन्ने को प्रभु ने देखा तो नये सिरे से नया भाग्य लिख दिया । यह ब्रह्मा का लिखा नहीं, हमारे प्रभु का लिखा हुआ है । गोस्वामीजी कवितावली रामायण में कहते हैं कि मैं पहले कैसा था—**पातक पीन**, पाप की दृष्टि से तो मोटा था और **कुदारिद दीन**, अपनी दीनता से दुर्बल था :

पातक पीन कुदारिद दीन हाथ धरे कथरी करवाहे ।

मेरे पास दो ही वस्तुएं थीं—ओढ़ने के लिए तो कंथा तथा भोजन करने और भिक्षा मांगने के लिए हाथ में मिट्टी का करवा । गोस्वामीजी ने

कहा कि मेरे पिताजी ही नहीं जिसके द्वार पर भी मैं खड़ा हो जाता था प्रत्येक व्यक्ति कहता था—**लोग कहैं बिधिहु न लिख्यो**, लोग कहते थे कि यह इतना अभागा है कि इसके माता-पिता ने इसका त्याग कर दिया है और सचमुच ब्रह्मा ने भी मेरे मस्तक पर नहीं लिखा।

लोग कहैं बिधिहु न लिख्यो सपनेहु नहिं अपनो बरबाहै।

कवितावली, ७/५६

मेरा एक रोम भी ऐसा नहीं था जिसे मैं भाग्ययुक्त कह सकूं। लेकिन उस तुलसीदास को आज सारे संसार के लोग **राम का किंकर, राम का सेवक** कहते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं :

पातक पीन कुदारिद दीन हाथ धरे कथरी करवाहै।
लोग कहैं बिधिहु न लिख्यो सपनेहु नहिं अपनो बरवाहै।
राम को किंकर सो तुलसी समुझेंहि बनै कहिबे नरबाहै।

कवितावली, ७/५६

उन्होंने कहा कि यह तो समझने की बात है। क्या रहस्य है ?

ऐसी को ऐसो भयो तुलसी भजे गुरु वानर को चरवाहै।

हमारे प्रभु वानरों के चरवाहे थे और उन्हें मुझ में बन्दरों के सभी लक्षण मिल गये। बन्दर कामी, क्रोधी,लोभी सब होता है। सचमुच बन्दर महाकामी होता है :

मैं पावँर पसु कपि अति कामी।। ४/२०/३

क्रोधी इतना होता है, अगर कभी बन्दरों से आपका पाला पड़ा होगा तो आप जानते होंगे, कि उसकी ओर अगर आप लड्डू उठाकर भी देखें तो वह घूरकर, खौंखियाकर दौड़ेगा। बन्दर लोभी तो इतने होते हैं कि यदि उनके बच्चों को खाने को दे दिया जाये तो उनसे भी छीनकर खा जायें। चित्रकूट-अयोध्या में यह दृश्य बहुत देखने को मिलता है। इससे ऐसा लगता है जैसे बन्दर तो काम-क्रोध-लोभ का मिला-जुला रूप हो। गोस्वामीजी ने कहा कि प्रभु ने बन्दरों के सारे लक्षण मुझ में भी देख लिये और उनको लगा कि इसमें भी काम-क्रोध-लोभ तीनों पूरी तरह विद्यमान हैं और जब मैं इतने बन्दरों को लेकर लंका

तक गया तो चलो एक बन्दर और सही और उन्होंने उन बन्दरों के साथ-साथ एक बन्दर मुझे भी बना लिया; क्योंकि वे ठहरे बानरों के चरवाहे। इतना ही नहीं, लंका-विजय के बाद उन बन्दरों को साथ लेकर आये। इसके माध्यम से भगवान श्रीराम के सुनियोजित चरित्र का तत्त्व प्रकट होता है। भगवान् श्री राम के सेतुत्व का जो क्रम था उसकी अन्तिम पराकाष्ठ तब हुई जब भगवान् राम पुष्पक विमान से उतरे। सामने गुरु वशिष्ठ थे और उन्हें देखते ही प्रभु ने धनुष-बाण रख दिया और गुरु के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। गुरु वशिष्ठ ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। इसके बाद प्रभु ने दूसरा कौतुक किया। बन्दर बेचारे तो सभ्यता आदि से सर्वथा शून्य थे और यहां के वातावरण में इस सारे दृश्य को देखकर तो वे भौंचक्के रह गये, क्योंकि इतने दिनों तक तो उन्होंने भगवान् राम के साथ मनमाना व्यवहार किया था—**प्रभु तरुतर कपि डार पर**, प्रभु नीचे बैठे हैं तो ये जाकर डाल पर बैठ गये। ऐसे स्वभाव के अभ्यस्त वानरों ने जब यहां का शिष्टाचार देखा तो घबराये। भगवान् राम ने उनकी घबराहट को देखकर तुरत सारे बन्दरों को बुलाया। गोस्वामीजी ने इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। प्रभु को इस बात का संकोच नहीं हुआ कि अयोध्यावासी हंसेंगे कि कैसे साथियों को लेकर चले आये अपितु गोस्वामीजी ने वानरों के लिए 'सखा' शब्द का प्रयोग किया :

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। ७/७/५

अयोध्या के इतने बड़े समाज में भगवान राम बन्दरों को मित्र कहकर पुकार रहे हैं और मित्रों को बुलाकर दूसरा काम यह किया :

मुनि पद लागहु सकल सिखाए।। ७/७/५

बन्दरों को सिखाया कि चरणों में गिरकर गुरुजी को प्रणाम कैसे किया जाता है। बेचारे यह भी तो नहीं जानते थे। 'सिखाए' शब्द में गोस्वामीजी ने विनोद किया कि बेचारों को यह भी पता नहीं था कि गुरुदेव के चरणों में किस विधि से प्रणाम किया जाना चाहिए, वह भगवान् राम ने सिखा दिया। लेकिन गोस्वामीजी कहते हैं कि सर्वोपरि मिलन हुआ गुरु वशिष्ठ और बन्दरों का। इसका अभिप्राय है कि मनुष्य और पशु के बीच भी भगवान् राम सेतु बन गये। मानव-

जाति का सवश्रेष्ठ व्यक्ति और पशुओं में सबसे निम्न पशु, जब दोनों आमने-सामने खड़े हुए तो भगवान् राम दोनों को एक-दूसरे का परिचय देते हैं। वे बन्दरों से कहते हैं:

गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे।
इन्ह की कृपां दनुज रन मारे॥ ७/७/६

मित्रो, यही हमारे गुरुदेव हैं जिनकी कृपा से लंका की लड़ाई जीती गई। लेकिन भगवान् राम ने केवल गुरुदेव को ही श्रेय नहीं दिया, उन्होंने गुरुदेव से कहा—**ए सब सखा**, महाराज, ये सब मेरे मित्र हैं। गुरु वशिष्ठ तो देख ही रहे थे कि उन्होंने बन्दरों को मित्र कहकर पुकारा है लेकिन उनका इतना ही परिचय नहीं है:

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहं बेरे॥ ७/७/७

युद्ध तो समुद्र की तरह था और समुद्र को कोई अपने भुजबल से तैरकर थोड़े ही पार कर सकता है! महाराज, लोग समझते होंगे कि इस युद्ध के समुद्र को राम ने अपने भुजबल से तैरकर पार किया होगा किन्तु इसकी तो कल्पना भी मूर्खता है। समुद्र को पार करने के लिए जहाज और मल्लाह दोनों की आवश्यकता होती है, सो दोनों मिल गये। आपकी **कृपा बन** गई मल्लाह, आप कृपालु होकर बन गये उस नौका को खेनेवाले और ये बन्दर बन गये जहाज। आप दोनों ने मिलकर हमें पार उतार दिया। पर ऐसा विचित्र बंटवारा किया श्रेय का कि एक ओर तो गुरुजी को और दूसरी ओर बन्दरों को श्रेय दिया। किसको श्रेष्ठ कहें—जहाज महान् है या उसे खेनेवाला मल्लाह महान् है। दोनों का परिचय देते हैं और जब गुरु वशिष्ठ गद्‌गद हो जाते हैं इस परिचय से तो मानो गोस्वामीजी ने संकेत किया कि भगवान् राम के व्यक्तित्व की सार्थकता यही है कि वे मनुष्य-मनुष्य में ही नहीं बल्कि मनुष्य और पशु के बीच भी सेतु बनकर दोनों का मिलन करा देते हैं। और अन्त में सांकेतिक वर्णन आता है कि जब सबके-सब बन्दर अयोध्या में रहने लगे तो एक नई बात हो गई:

हनुमदादि सब बानर बीरा।
धरे मनोहर मनुज सरीरा ।। ७/७/२

सबके मनुष्य-शरीर धारण कर लेने से मानो पशुओं में भी मानवता का उदय हो गया, पशु भी मनुष्य बन गये और इस प्रकार से राम-राज्य की स्थापना हुई। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भगवान् राम के व्यक्तित्व की यह पराकाष्ठा है कि वह सेतु के रूप में एक-दूसरे को सन्निकट लाता है। लेकिन भगवान् राम के चरित्र और व्यक्तित्व की जो विशेषता है वही रामचरितमानस की भी विशेषता है। रामचरितमानस भी वस्तुतः समाज में सेतु है, और आज के युग में तो हमारे जीवन में सेतु की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि हममें तोड़ने की प्रक्रिया में कुशल तो अनगिनत लोग हैं किन्तु सन्निकट लाने की प्रक्रिया यदि आप देखना चाहें तो रामचरितमानस का आश्रय लेना होगा। वस्तुतः रामचरितमानस ने भी सबसे बड़ा कार्य यही किया कि सेतु बनकर बुध और जन को मिला दिया। उदाहरण के लिए यहां उपस्थित श्रोताओं में भी देख लीजिए, जिस प्रकार से विविध वर्गों के लोग यहां एकत्र हैं वह क्या है? यह भगवान् राम के चरित का सेतु है। जो व्यक्ति अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकते थे वे राम-चरितमानस रूपी सेतु के माध्यम से परस्पर एक-दूसरे के सन्निकट आ गये हैं :

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।
रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ।। १/३०/५ 15/7/8

और इसीलिए गोस्वामीजी ने सेतु को पूर्ण बना दिया। भगवान् कृष्ण ने जैसे गीता में कहा कि इसको कुछ लोगों को नहीं सुनाना चाहिए उसी प्रकार जब श्री शंकरजी ने रामचरितमानस की रचना की तो कह दिया कि यह रामकथा तो बड़ी सुन्दर है पर सबको नहीं सुनानी चाहिए। भगवान् शंकर ने सबसे पहले यह बताया कि किस-किसको नहीं सुनानी चाहिए और उसके पीछे एक मनोविज्ञान भी है। शंकर ने कहा :

यह न कहिअ सठही हठसीलहि।
जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि ।। ७/१२७/३

अर्थात् इसे दुष्ट व्यक्ति को नहीं सुनाना चाहिए, हठी व्यक्ति को नहीं सुनाना चाहिए जो मन लगाकर कथा न सुने। भगवान् शंकर का यह हलका-सा व्यंग्य भी था पार्वती के प्रति। अरे, आप तो बड़ी शिष्ट थीं फिर भी आपने पूर्वजन्म में मन लगाकर कथा नहीं सुनी तो इतनी दुर्दशा हुई। अतः यदि दुष्ट मन लगाकर कथा नहीं सुनेगा तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, इसकी कल्पना आप कर लीजिए। लेकिन गोस्वामीजी ने जब कथा सुनाई तो क्या किया? शंकरजी ने कहा कि पार्वती मैं तो तुम्हें सुनाता हूं, तुम्हारा हृदय है सुनने योग्य। काकभुशुण्डिजी ने गरुड़जी से कहा, आप हैं सुनने योग्य। उन्होंने कहा कि नहीं, आप तो वस्तुतः मुझे बड़प्पन देने के लिए आये हुए हैं, आपके हृदय में सन्देह कैसे हो सकता है! इसका अभिप्राय है कि भगवान् शंकर ने पार्वतीजी को कथा सुनाई जो मूर्त्तिमती श्रद्धा हैं अर्थात् श्रोता श्रद्धालु होना चाहिए। काकभुशुण्डि ने गरुड़ को सुनाई, गरुड़ विचारक हैं, ज्ञानी हैं; अतः इसका अभिप्राय है कि कथा सुननेवाला विचारक होना चाहिए। याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाज को सुनाई, भरद्वाज मुनि थे जिसका तात्पर्य यह है कि कथा मननशील व्यक्ति को सुनानी चाहिए। अतः श्रद्धालु कथा सुने, विचारक कथा सुने, मननशील कथा सुने यह बात तो ठीक है किन्तु पुल किसने बनाया? सेतु का निर्माण तो तुलसीदासजी ने किया। तुलसीदासजी से पूछा गया कि आपका श्रोता कौन है? उन्होंने हम लोगों को श्रोता नहीं बनाया बल्कि कहा कि जो दूसरों को ज्ञान देने का अधिकारी है वह दूसरों को श्रोता बनाये, हमारा श्रोता तो हमारा मन ही है। गोस्वामीजी से पुनः पूछा गया कि महाराज, आपका मन श्रद्धालु है, विचारक है या मननशील है, उसमें कौन-सा गुण है कि आपने उसी को श्रोता बनाकर कथा कहना प्रारम्भ कर दिया? गोस्वामीजी ने कहा कि मेरे मन का तो एक ही विशेषण है। रामायण में जब तुलसीदासजी अपने मन को पुकारते है तो एक शब्द जोड़ देते हैं—**सुनहि सन्तत सठ मना**, अरे दुष्ट मन तू सुन। शंकरजी ने जिसको कथा सुनाने से रोका था गोस्वामीजी ने उसी को सुनाई। तुलसीदासजी की मान्यता थी कि शिष्ट से लेकर दुष्ट तक मिल सकें तभी रामकथा की सार्थकता है। यदि केवल श्रद्धालु, केवल विचारक और मननशील ही रामकथा सुनने के अधिकारी होंगे तो फिर दुष्ट लोग शिष्ट कैसे बनेंगे? हठी अपने

हठ का परित्याग कैसे करेंगे ? अतः गोस्वामीजी अपने मन के साथ शठ विशेषण का प्रयोग कर एक ऐसे सेतु का निर्माण कर देते हैं जहां पार्वती से लेकर शठ-से-शठ मनवाला व्यक्ति भी श्री रामकथा का अधिकारी बन सकता है। रामकथा का तात्पर्य भी यही है संस्कृत और भाषा में सेतु के रूप में, जन और बुध के बीच सेतु के रूप में तथा शैव और वैष्णव के मध्य सेतु के रूप में। इस प्रकार रामचरितमानस वस्तुतः सेतु के रूप में सारे समाज को एक-दूसरे के सन्निकट लानेवाला है। यह है रामकथा की विशेषता।

विगत वर्षों में भगवान् राम के जन्म की बहुत चर्चा की जाती रही है इसलिए रामचरितमानस के रचना-दिवस की दृष्टि से आज मैंने याद दिलाई कि हम रामचरितमानस के सृजन के गौरव को भी स्मरण रखें और इस सेतु के माध्यम से आपस में जुड़े रहें। जब सारे सेतु टूट जायेंगे तो भी, विश्वास रखिए, रामचरितमानस का सेतु सारे समाज को मिलाने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहेगा। और जैसा कि आरम्भिक प्रवचन में कहा जा चुका है कि रामचरितमानस का जो सेतु है उसमें ज्ञान का सेतु है, भाव का सेतु है, व्यवहार का सेतु है और उस सेतु की समग्रता के माध्यम से गोस्वामीजी ने किसी एक पक्ष, एक वर्ग, एक जाति या समाज-विशेष का समर्थन न करके सबको एक-दूसरे के निकट लाने की चेष्टा की। इसी दृष्टि से भगवान् राम के व्यक्तित्व में जो सेतुत्व है उसी के सन्दर्भ में जब भावसेतु की चर्चा आई थी तब आपके सामने पुष्पवाटिका का प्रसंग लिया गया था। पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामीजी ने श्रृंगार और वात्सल्य में सेतु की रचना की, श्रृंगार और शान्त रस में सेतु की रचना की। वस्तुतः शान्त और श्रृंगार परस्पर-विरोधी रस माने जाते हैं किन्तु पुष्पवाटिका एक ऐसा प्रसंग है जहां गोस्वामीजी शान्त रस से प्रारम्भ करते हैं और उसकी समाप्ति भी शान्त रस से करते हैं। इस प्रवचन के आरम्भ में जो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं उनके अनुसार भगवान् श्री राम गुरु विश्वामित्र के पास जाते हैं और अपने अन्तर्मन की दशा का पूरा वर्णन उनके समक्ष कर देते हैं। तब प्रसन्न होकर महर्षि विश्वामित्र कहते हैं--**सुफल मनोरथ होहुं तुम्हारे,** इस प्रकार शान्त रस के रूप में समाप्ति होती है। और मध्य में किस प्रकार वात्सल्य और श्रृंगार को उन्होंने जोड़ा इसकी चर्चा पिछले दो प्रवचनों में की जा चुकी है।

यहां मैं सूत्ररूप में उसका थोड़ा-सा आभास दे दूं। जिस प्रकार सेतु दोनों किनारों के साथ तो जुड़ा हुआ होता ही है पर सेतु तो मध्य में भी है। किनारा तो केवल एक-एक ओर है पर सेतु की विशेषता यह है कि उसके तीन पक्ष हैं—वह दोनों किनारों से जुड़ा हुआ है और मध्य में है। इसी प्रकार से रामचरितमानस में गोस्वामीजी महाराज ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के बीच एक दिव्य सेतु की रचना की। इन तीनों की समग्रता, इन तीनों का रामायण में, जीवन में और रामचरितमानस में बड़ा महत्त्व है और इन तीनों के महत्त्व को आप ध्यान में रखें तो विषय की गम्भीरता के बावजूद उसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। रामचरितमानस में तीन नारी-पात्र हैं—एक तो है ताड़का, दूसरी मंथरा और तीसरी है शूर्पणखा। इन तीनों को तीन रूपों में, अनेक रूपों में आपके सामने रखा गया है। इसका एक संकेत यह है कि हमारे यहां जो तीन योग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीनों नारी-पात्र उक्त तीन योगों की तीन विरोधिनी हैं। ताड़का कर्मयोग की विरोधी है, मंथरा ज्ञानयोग की विरोधी है तथा शूर्पणखा भक्तियोग की विरोधी है। कैसे? आप देखेंगे कि ताड़का सबसे अधिक रुचि लेती है यज्ञ विध्वंस करने में। यह कर्मयोग का विषय है। भगवान् यज्ञ-कर्म करने की प्रेरणा देते हैं और ताड़का अपने पुत्रों को आदेश देती है कि जहां कहीं यज्ञ हो रहा हो उसे नष्ट कर दो। इसलिए वह कर्मयोग की विरोधी है। मंथरा ज्ञानयोग की विरोधी है, राम-राज्य की विरोधी है और ज्ञान का अभिप्राय है अभेद, ब्रह्म-साक्षात्कार। कैकेयी के अन्तःकरण में श्री राम और भरत के प्रति अभेद था, उनके मन में भेद की सृष्टि करके वह रामराज्य की स्थापना में बाधक बनती है। वस्तुतः भेद की सृष्टि करनेवाली मंथरा ज्ञान की विरोधी है। इस प्रकार कर्मयोग की विरोधी है ताड़का, ज्ञानयोग की विरोधी है मंथरा और शूर्पणखा भक्तियोग की विरोधी है। उसका यदि सबसे अधिक किसी के प्रति द्वेष है तो वह श्री सीताजी के प्रति है। श्री सीता मूर्त्तिमती भक्ति हैं। ताड़का को यज्ञ अप्रिय है, मंथरा को राम अप्रिय हैं तो शूर्पणखा को सीता अप्रिय हैं। इसलिए जब शूर्पणखा भगवान् राम से कहने लगी कि आप बड़े सुन्दर हैं तो श्री सीताजी के अधरों पर हंसी खेल गई। लगता है कि इनके सौन्दर्य की तो जहां देखो वहीं सभी एकस्वर से सराहना करते रहते हैं पर शूर्पणखा ने एक ऐसा

वाक्य जोड़ दिया जो भक्तियोग के सर्वथा विरुद्ध है। भक्तियोग का नियम यह है कि भक्त अपनी दीनता और भगवान् की श्रेष्ठता बताता है। जैसाकि गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभु, आप दीनबन्धु हैं और मैं दीन हूं। पर शूर्पणखा ने एक नया योग निकाल लिया और उस नये योग के अनुसार शूर्पणखा भगवान् राम की प्रशंसा तो करती है पर साथ-साथ यह भी जोड़ देती है :

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। ३/१६/८

तुम्हारे समान यदि कोई सुन्दर पुरुष नहीं है तो मेरे समान कोई सुन्दर नारी भी नहीं है। इस पर श्री सीताजी ने कहा कि यह तो नया योग निकल आया। अपने में हीनता और भगवान् में विशेषता दिखाई देगी तभी तो समर्पण होगा, तभी तो शरणागति होगी। किन्तु शूर्पणखा कहती है कि नहीं, दोनों बड़े सुन्दर हैं और वह इसमें फिर संशोधन कर देती है। अगर शूर्पणखा से पूछा जाये कि यदि दोनों सुन्दर हैं तो भी दोनों में कुछ तो कमी या अधिकाई होगी। कदाचित् शूर्पणखा यही कह दे कि हैं तो दोनों ही सुन्दर पर आप मुझसे कुछ अधिक सुन्दर हैं, किन्तु शूर्पणखा ने ऐसा नहीं कहा। उसने स्पष्ट कह दिया :

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं।
देखेउं खोजि लोक तिहु नाहीं॥
तातें अब लगि रहिउं कुमारी।
मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥ ३/१६/९

तुम्हें देखकर मन कुछ मान गया। किन्तु भक्तियोग तो तभी बनता है जब भगवान् में पूरा मन मान जाये। जब भगवान् में कुछ मन माने तो समझ लेना चाहिए कि यह भक्तियोग के विरुद्ध कोई योग होगा। इसलिए जब भगवान् राम ने शूर्पणखा का नया योग सुना तो तुरत **सीतहि चितइ,** भक्तियोग की ओर संकेत किया कि जरा इनसे भक्ति-योग की शिक्षा तो ले लो। तुम जिस भाषा का प्रयोग कर रही हो उस प्रकार मुझे कैसे प्राप्त करोगी। अन्त में वह लक्ष्मणजी के पास गई और लक्ष्मणजी ने लौटाया तो फिर भगवान् राम के पास पहुंची। आखिर शूर्पणखा इस निष्कर्ष पर पहुंची कि मेरे और श्री राम के विवाह में यही सुन्दरी बाधक है और इसी के स्नेह में आसक्त होकर

राम मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। यदि मैं सीता को मिटा दूं तो राम विवाह कर लेंगे, अतः वह श्री सीताजी को खाने के लिए चली। इसलिए वह भक्तियोग की सबसे बड़ी विरोधी है। भगवान् राम अभी तक विनोद कर रहे थे। उन्होंने शूर्पणखा को दण्ड देने के लिए कब कहा ? गोस्वामीजी कहते हैं :

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। ३/१६/११

भगवान् राम ने देखा कि श्री सीताजी अत्यन्त भयभीत हो गई हैं। भक्तियोग के प्रति प्रहार करने की वृत्ति लेकर जो भगवान् को पाने की चेष्टा करता है तो भगवान् राम जीवों के आचार्य लक्ष्मणजी को आदेश देते हैं कि तुम इसे दण्ड दो और वह दण्डित होती है। इस प्रकार ये तीन पात्र ऐसे हैं जो उक्त तीनों योगों के विरोधी हैं। ये तीनों भगवान् राम के चरित्र में तीन मोड़ लाती हैं। भगवान् राम की विश्वामित्र के साथ की गई यात्रा में सर्वप्रथम ताड़का, भगवान् राम की चित्रकूट-यात्रा में मंथरा और भगवान् राम की लंका-यात्रा में शूर्पणखा हेतु बनती है। और जिन महिमामयी देवियों के माध्यम से आज के दिन रामनवमी को प्रभु जिन चार रूपों में अभिव्यक्त होते हैं वे कौन हैं ? वे भी तीन माताएं हैं, तीन महिमामयी नारियां। आजकल लोग प्रायः कहते रहते हैं कि गोस्वामीजी तो नारी-निन्दक हैं। किन्तु वे तो शूर्पणखा, मंथरा और ताड़का के निन्दक थे न कि नारी के कौशल्या-रूप, सुमित्रा-रूप और कैकेयी-रूप के। और ये तीनों भी योग की मूर्त्तिमती प्रतीक हैं :

ज्ञानशक्तिश्च कौशल्या सुमित्रो पातनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

भगवान् राम ने स्वयं को चार रूपों में तीन माताओं के माध्यम से प्रकट किया रामनवमी के दिन। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर ज्ञानयोग के माध्यम से, भक्तियोग के माध्यम से और कर्मयोग के माध्यम से भी प्रकट होता है। भगवान् श्री राम इसीलिए अपने को चार रूपों में विभक्त कर लेते हैं और तीन माताओं के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। इस तरह भगवान् राम ने यह संकेत दिया कि तीनों योगों, त्रियोग, की समग्रता से मेरी अभिव्यक्ति होती है।

इसलिए पूरे रामचरितमानस का आपको सच्चा आनन्द तभी मिलेगा जब आप यह देखेंगे कि किस प्रकार से रामायण के हर प्रसंग में इन तीनों योगों का समन्वय किया गया है। जब गोस्वामीजी का जन्म हुआ था उस समय भी और आज भी इस मनोवृत्ति के बहुत-से लोग हैं जो ज्ञानयोग का समर्थन करेंगे तो भक्तियोग का विरोध करेंगे, भक्तियोग का समर्थन करेंगे तो ज्ञानयोग को अत्यन्त गर्हित बतायेंगे और कर्मयोग का समर्थन करेंगे तो ज्ञान और भक्ति की उपेक्षा करेंगे। गोस्वामीजी सर्वत्र तीनों योगों का समन्वय करके ज्ञान, भक्ति और कर्म के माध्यम से यह सन्देश देना चाहते हैं कि हम अपने जीवन में ईश्वर को प्रकट करें। इसी दृष्टि से पुष्पवाटिका-प्रसंग सूत्र-रूप में आपके सामने रखा गया। उसमें भी गोस्वामीजी ने इन तीनों योगों का समन्वय प्रस्तुत कर दिया है। उसमें कर्मयोग है, ज्ञानयोग और भक्तियोग है। और इन तीनों योगों का स्वरूप क्या है? इस प्रवचन के आरम्भ में जो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं उनमें गोस्वामीजी कहते है कि विश्वामित्र ने भगवान् राम की बात सुनकर कहा—**सुफल मनोरथ होहुं तुम्हारे**। इसमें निहित तत्त्व बड़ा गम्भीर है और वह यह है कि महर्षि विश्वामित्र के आदेश से भगवान् श्री राम वाटिका में पुष्प लेने के लिए गये थे, न कि फल लेने। यदि इस प्रसंग को कोई ठीक-ठीक समझ ले तो कर्मयोग का सच्चा रहस्य हृदयंगम करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होगी। भगवान् राम ने कर्मयोग का जो दिव्य रहस्य प्रकट किया वह यह है कि यद्यपि पूजन के लिए पुष्प लाना बड़ा पवित्र कार्य है पर इस कार्य को भी भगवान् राम ने महर्षि विश्वामित्र के आदेश से पूरा किया। दूसरी बात यह कि भगवान् श्रीराम फूल लेने गये थे, फल लेने नहीं। बस, कर्मयोग में यदि दो बातें आ जायें तो कर्मयोग की परिपूर्णता हो गई। गोस्वामीजी ने कर्मयोग की तुलना एक अन्य प्रसंग में की जहां गंगा-यमुना-सरस्वती, तीनों नदियों का संगम कराते हुए कहा कि सच्चा सन्त-समाज तो वहीं पर है जहां ज्ञान-भक्ति-कर्म का समन्वय हो रहा है। और इसी की तुलना वे प्रयाग से करते हैं जहां बड़ा सुन्दर संकेत देते हैं:

राम भक्ति जहं सुरसरि धारा।
सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥

बिधि निषेधमय कलि मल हरनी।
करम कथा रबिनन्दनि बरनी।। १/१/८

कर्म की कथा यमुना है, ज्ञान की कथा सरस्वती है और भक्ति की कथा गंगा है। यमुना सूर्य की पुत्री है और उसके विषय में गोस्वामीजी कहते हैं कि वह कर्म की प्रतीक है। हमारी पौराणिक मान्यता यह है कि यमुना में स्नान करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कहा जाता है कि यमुना यमराज की बहन है। यमराज ने उसे आशीर्वाद दिया था कि तुझमें जो स्नान करेगा उसके सारे पाप नष्ट हो जायेंगे। पर इसका आनन्द तब आयेगा जब आप पुराणों में वर्णित दूसरी नदी की ओर ध्यान दें। यमुना यदि कर्म-नदी है तो पुराणों में एक नदी और है जिसका नाम है कर्मनाशा। उक्त कर्मनाशा, जो बिहार और उत्तर प्रदेश की सीमा पर बहनेवाली नन्ही-सी नदी है, के विषय में पुराणकार कहते हैं कि अगर व्यक्ति धोखे से भी उसमें पैर डाल दे तो उसके सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं। किन्तु यदि दोनों नदियों का जल किसी वैज्ञानिक को देकर उससे कहा जाये कि आप बता दीजिए दोनों में क्या अन्तर है, तो ऐसा नहीं कि कर्मनाशा का जल सचमुच पापयुक्त दिखाई दे और यमुना का जल पुण्ययुक्त। किन्तु पुराणकार कहते हैं कि एक नदी में स्नान कीजिए तो पुण्य नष्ट होंगे और दूसरी नदी में स्नान कीजिए तो पाप नष्ट होंगे। इसका अभिप्राय है कि कर्म कर्म दिखाई तो देता है समान लेकिन एक कर्म कर्मनाशा के समान है और दूसरा कर्म यमुना के समान। इतना ही नहीं यदि इसके अन्तरंग में पैठकर देखें तो एक तत्त्व और प्रकट होता है। यमुना के लिए कहा जाता है कि वह सूर्य की पुत्री है—**रवितनया के करत बड़ाई**। और कर्मनाशा कहां से प्रकट हुई, उसके जन्मदाता कौन हैं? त्रिशंकु नामक राजा के माध्यम से कर्मनाशा का उदय हुआ था और वे भी सूर्यवंश के ही राजा थे, महाराज हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवादी के पिता। इसका सांकेतिक तत्त्व यह है कि सूर्यवंश-जैसे पवित्र वंश में जन्म लेने के बाद भी केवल इतना व्यवधान पड़ गया कि यमुना जहां सूर्य की सीधी पुत्री है वहां इस कर्मनाशा का जन्म हुआ त्रिशंकु के माध्यम से। इसके द्वारा हमारे पुराणकार यह बताना चाहते हैं कि केवल अपवित्र कर्म ही नहीं पवित्र कर्म के माध्यम से भी व्यक्ति बन्धन में पड़ सकता है,

पवित्र कर्म के द्वारा भी व्यक्ति नीचे गिर सकता है। कर्मनाशा नदी बन सकती है, क्योंकि यदि आप कर्मनाशा की कथा पर ध्यान दें तो आपको यही तत्त्व मिलेगा। त्रिशंकु ने गुरु वशिष्ठ से कहा कि आप मुझे सशरीर स्वर्ग पहुंचा दीजिए। गुरु वशिष्ठ समझ गये कि यह अहंकारी है। उन्होंने कहा कि यदि तुम सत्कर्म करोगे तो शरीर छूटने के बाद स्वर्ग में जाओगे ही। उन्होंने कहा कि नहीं महाराज, जैसे सब लोग स्वर्ग गये वैसे ही यदि मैं भी गया तो फिर मेरी विशेषता क्या रही ? स्वर्ग तो जाऊं पर औरों की तरह नहीं, जरा अलग ढंग से। अन्य लोग शरीर छोड़कर जाते हैं किन्तु मैं सशरीर जाऊंगा। यहीं अहंकार आ गया। वशिष्ठजी ने कहा कि नहीं, यह असम्भव है। इसलिए वे पहुंचे विश्वामित्रजी के पास। त्रिशंकु बोले, गुरु वशिष्ठ तो असम्भव कह रहे हैं, आप क्या कहते हैं ? विश्वामित्रजी ने कहा कि सर्वथा सम्भव है। दोनों के झगड़े से परिचित थे त्रिशंकु। अच्छा, यदि वशिष्ठजी इन्कार कर रहे हैं तो हम विश्वामित्रजी के सहारे पहुंच जायेंगे स्वर्ग में। इच्छा तो स्वर्ग जाने की लेकिन उसके पीछे भी अहंकार छिपा हुआ था, सशरीर जाऊंगा। वे गये थे एक सन्त के पास, विश्वामित्र के पास किन्तु सन्त के पास सत्संग के लिए नहीं अपने गुरु को नीचा दिखाने के लिए गये थे। दिखाई तो दे रहा है प्रत्येक कर्म श्रेष्ठ पर प्रत्येक कर्म के पीछे भावना है अपवित्र। ईर्ष्या की वृत्ति से प्रेरित होकर गये थे। और विश्वामित्रजी इतने बड़े तपस्वी थे कि उन्होंने अपनी तपस्या के द्वारा त्रिशंकु को स्वर्ग में भेज दिया। जब त्रिशंकु स्वर्ग में पहुंचे तो देवताओं ने वहां से धकेला, क्योंकि वहां का तो नियम ही नहीं कि कोई सशरीर स्वर्ग में आये। बेचारा ऊपर तो गया था सिर के बल, किन्तु गिरने लगा तो सिर नीचे और पैर ऊपर। सो उसने विश्वामित्रजी को पुकारा कि महाराज, मैं तो नीचे गिर रहा हूं। अब देखिए हर जगह यही क्रम है। विश्वामित्रजी परोपकार कर रहे हैं या नहीं ? दूसरे को स्वर्ग भेजना तो परोपकार ही है ? किन्तु वस्तुतः परोपकार के लिए नहीं, बल्कि वशिष्ठ को नीचा दिखाने के लिए त्रिशंकु को स्वर्ग भेज रहे हैं विश्वामित्र। एक को ऊपर उठा रहे हैं दूसरे को नीचा दिखाने के लिए। हर कर्म के पीछे अपवित्र वृत्ति छिपी हुई है। परिणाम यह हुआ कि त्रिशंकु को नीचे गिरते देख विश्वामित्रजी ने कह दिया, वहीं बीच में रुक जाओ और वह बेचारा

बीच में लटक गया। और उसके मुंह से जो लार टपकी उसी से कर्मनाशा नदी निकल आई। पुराण भी विचित्र-विचित्र कथाएं कहते हैं। त्रिशंकु के मुंह से टपकनेवाली लार से कर्मनाशा नदी का जन्म हुआ जिसमें स्नान करते ही सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं। इस पर विश्वामित्रजी ने क्रोध में आकर कहा कि मैं नया स्वर्ग बनाऊंगा, किन्तु मुनियों और देवताओं ने स्तुति करके कहा कि महाराज, आपसे बड़ा कोई नहीं है। इस पर विश्वामित्रजी ने पूछा कि क्या चाहते हो? देवता बोले कि स्वर्ग बनाना छोड़ दीजिए। उन्होंने कहा कि अच्छा, कोई बात नहीं। प्रशंसा की भूख मन में बनी हुई थी इसलिए मान गये। लार टपकना के लिए हिन्दी-संस्कृत में एक शब्द है—लालसा, अर्थात् लार टपकना, और इसलिए कर्मनाशा नदी का जन्म हुआ है लार से, लालसा से। अतः जिस सत्कर्म के पीछे अहंकार होगा, जिसके पीछे लालसा होगी, जिस कर्म के पीछे ईर्ष्या होगी वह तो पुण्य को नष्ट करनेवाला बनेगा ही। इस नदी में स्नान करके, फिर चाहे उस कर्मनाशा में नहायें या न नहायें, अगर इस कर्मनाशा में हम नहा रहे है, यदि अहंकार, ईर्ष्या और लालसा ही हमारे जीवन में कर्म की प्रेरिका हैं तो निश्चित रूप से हमारे सारे पुण्य समाप्त होते जा रहे हैं। हालांकि वह घटना लगती तो हंसी की है पर मुझे तो बड़ी सार्थक लगती है। बनारस से एक बरात जानेवाली थी कर्मनाशा नदी के उस पार, किन्तु बनारस के पण्डितों के सामने समस्या थी कि यदि नदी में पैर रखेंगे तो पुण्य चला जायेगा। अतः जहां बरात जानेवाली थी उन लोगों ने एक उपाय बताया। चूंकि गरमी में नदी में इतना कम पानी होता है कि उसमें नाव भी नहीं चल सकती इसलिए उन लोगों ने कहा कि गांव के जो स्वस्थ लोग हैं वे आप लोगों को कंधे पर बैठाकर पार उतार देंगे और आप लोगों का पुण्य बच जायेगा। इस प्रस्ताव को उन्होंने स्वीकार कर लिया और पण्डितगण लोगों के कंधों पर बैठ गये। नदी पार कराते हुए बेचारे सबसे स्वस्थ व्यक्ति का पैर फिसल गया और उसके कंधे पर बैठे सबसे बड़े पण्डितजी गिर पड़े। इस पर वे बहुत बिगड़े कि मेरा सारा पुण्य नष्ट हो गया। तनिक विचार करके देखिए कि उक्त पण्डितजी तो कर्मनाशा में गिरने से पहले ही गिर चुके थे, जब वे दूसरे के कंधे पर बैठकर दूसरे का स्वर्ग मिटाकर अपना स्वर्ग बनाना चाहते थे। अतः वे त्रिशंकु बन ही चुके थे और

त्रिशंकु के समान तो थे ही। इसलिए अगर गिर पड़े तो कुछ बुरा नहीं हुआ। ईश्वर ने अच्छा ही विनोद किया। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करते हुए हमारे कर्म के पीछे अहंकार न हो, ईर्ष्या न हो, लालसा न हो तभी श्रेष्ठ कर्म सार्थक है। भगवान् राम ने अपने कर्मयोग का यही रहस्य प्रकट किया। पूजन के लिए पुष्प लेने गये पर महर्षि विश्वामित्र का आदेश पाये बिना, अपने अहंकार से प्रेरित होकर नहीं गये :

समय जानि गुर आयसु पाई।
लेन प्रसून चले दोउ भाई॥ १/२२६/२

तात्पर्य यह कि कर्म करने चले पर कर्त्ता बनकर नहीं, गुरुदेव के अंग बनकर। इतना ही नहीं, कितना बड़ा समत्व है कर्मयोग का—चाहे धनुष तोड़ना हो, चाहे फूल तोड़ना। दोनों कामों में कितना बड़ा अन्तर है! फूल कितना कोमल और धनुष कितना कठोर! फूल तोड़ने की बात इतनी साधारण है कि पूजन के लिए कोई भी फूल चुनकर ला सकता है। उसके लिए अयोध्या का सम्राट् राजकुमार फूल तोड़कर लाये इसकी आवश्यकता नहीं। फूल तोड़ने का कार्य बहुत साधारण और धनुष तोड़ने का कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है किन्तु भगवान् राम की दृष्टि में अगर फूल तोड़ने हैं तो गुरुदेव की आज्ञा की आवश्यकता है और धनुष तोड़ना है तो भी उनकी आज्ञा की आवश्यकता है। जब तक विश्वामित्र ने नहीं कहा वे ऐसे ही बैठे रह गये :

उठहु राम भंजहु भव चापा। १/२५३/६

अर्थात् अहंकारशून्य होकर कर्म करना। भगवान् राम वाटिका में फूल लेने गये थे, फल लेने के लिए नहीं; इसका अर्थ है गीता का वही तत्त्व जो कर्म का महान् तत्त्व है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। फूल क्या है? वह है सम-जम-नियम; कर्म ही फूल है। कर्म ही फूल है इसका क्या अभिप्राय है? भगवान् कर्म करने, पूजन के लिए पुष्प लेने गये थे, फल की आकांक्षा से नहीं गये थे। भगवान् श्री राम अहंकाररहित हैं, लालसारहित हैं, वे कोई श्री सीताजी का सौन्दर्य देखने के लिए वाटिका में नहीं गये थे। अहंकाररहित, कर्तृत्व-

रहित, ईर्ष्याशून्य, लक्ष्मण को साथ लेकर जानेवाले और उसके साथ-साथ फलाकांक्षा-रहित भगवान् राम मानों कर्मयोग का सच्चा स्वरूप प्रकट कर देते हैं। कर्म के पीछे यही तीनों वृत्तियां होनी चाहिए। इसलिए जब भगवान् राम फूल लेकर आये तो विश्वामित्रजी हंस पड़े। उन्होंने हंसकर कहा कि श्री राम तुम तो गये थे फूल लेने, फल लेने के लिए नहीं; अतः तुम तो निष्काम कर्मयोगी हो। लेकिन तुम्हारे मन में फल की आकांक्षा भले ही न हो पर मैं तो तुम्हें आशीर्वाद दूंगा ही :

सुफल मनोरथ होहुं तुम्हारे । १/२३६/४

अर्थात् भगवान् राम के मन में फल की आकांक्षा नहीं है पर गुरुदेव स्वयं भल दे देते हैं। इस प्रकार पुष्पवाटिका-प्रसंग में कर्मयोग का रहस्य, भक्तियोग का रहस्य क्या है इसकी चर्चा पिछले कई प्रवचनों में की जा चुकी है।

ज्ञानयोग की दृष्टि से ब्रह्म हैं भगवान् राम, आत्मा हैं मूर्त्तिमती सीता और यहां भगवान् राम और श्री सीता का मिलन मानो आत्मा और ब्रह्म के एकत्व का दिव्य मिलन है जो शाश्वत रूप से मिलित हैं। श्री सीताजी और भगवान् राम का अभिन्न सम्बन्ध है किन्तु जो भिन्न-जैसे प्रतीत हो रहे हैं। श्री सीताजी सखी से कहती हैं कि चलकर उनके दर्शन तो करा दो। सखी ने कहा, चलिए आगे। श्री सीताजी ने कहा कि आगे तो तुम चलो, मुझे क्या पता कि वे कहां पर हैं। पर गोस्वामीजी ने कहा :

चली अग्र करि प्रिय सखी सोई। १/२२८/८

श्री सीताजी ने सखी को आगे कर दिया। वे सखी को आगे करके क्यों चल रही थीं ? गोस्वामीजी ने कहा :

प्रीति पुरातन लखइ न कोई। १/२२८/८

सीताजी चाहतीं हैं कि मेरा पुराना परिचय कोई जान न जाये। ये दोनों शाश्वत परिचित हैं इसलिए किसी को आगे कर दिया। श्री सीताजी यह आभास देती हैं कि हममें तो दूरी है, तुमने वर्णन किया तो उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। तुम ले चल रही हो तो दर्शन कराओगी, विवाह के माध्यम से मिलन होगा। वस्तुतः ज्ञानयोग की परिपूर्णता

भी विद्यमान है। इस दृष्टि से ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग को मिलाकर गोस्वामीजी मानो बताना चाहते हैं कि हमारे जीवन में ज्ञान के माध्यम से श्री राम प्रकट हों। हमारे जीवन में क्रिया-रूपी कैकेयी के माध्यम से श्री भरत और शत्रुघ्न का जन्म हो, उपासनामयी सुमित्रा अम्बा के माध्यम से लक्ष्मण का जन्म हो। इस प्रकार अपने जीवन में रामनवमी के इस पावन पर्व पर हम यह याद रखें कि रामायण में तो बस दस और नौ का ही झगड़ा है। एक ओर है दश-मुख और उसने तपस्या की तो वरदान देने के लिए आ गये नौमुख—ब्रह्मा और शंकर। ब्रह्मा के चार मुख और शंकर के पांच मुख—दोनों को जोड़ दिया तो नौ हो गये। रावण ने दोनों को देखा तो मन-ही-मन हंसा। अपने मन में कहने लगा कि दोनों मिल गये तो भी मुझसे एक मुंह कम ही है, मेरी बराबरी के थोड़े ही हैं। पर वह यह भूल गया कि वे दश मानो बताना चाहते हैं कि जीवन की सार्थकता तो नौ में ही है। यह नौ भक्ति का प्रतीक है। रावण अगर शंकर और ब्रह्मा से नवधाभक्ति मांग लेता तो धन्य हो जाता, किन्तु वह अभागा रहा और उसके दसों सिर कट गये। अयोध्या के राजा दशरथ थे, उनमें भी दश था लेकिन उन्हें अपनी अपूर्णता का भान हो गया था। अतः वे गुरुजी के पास गये और कहा कि महाराज, मेरा जीवन तो अपूर्ण है। और दशरथ के जीवन में परिपूर्णता आई इसी रामनवमी के दिन, दश पूर्ण हुआ रामनवमी के दिन। इसका तात्पर्य है कि दशेन्द्रियवाले हम, आप सब हैं। यदि हम अपने जीवन में परिपूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं तो नवमी को भगवान् को प्रकट करें। जब हमारे जीवन में भगवान् प्रकट होंगे तभी परिपूर्णता आयेगी।

बिरला अकादमी आफ
आर्ट एण्ड कल्च

८/-